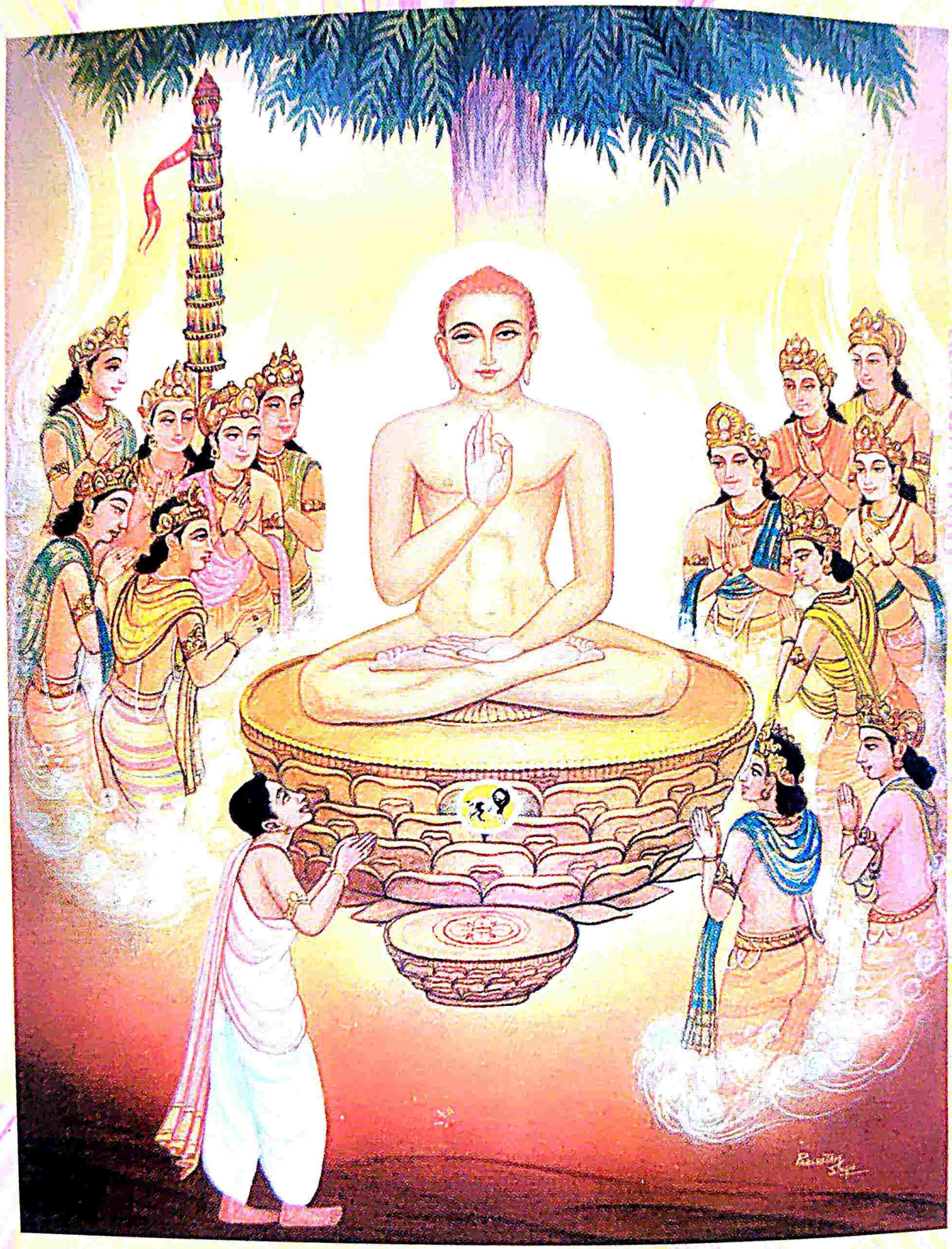

भगवान महावीर स्वामी

१. सम्यक्त्व-प्राप्ति (भव १-२)

जंबुद्वीप !

पश्चिम महाविदेह !!

महावप्र विजय !!!

जयंति नगरी !

शत्रुमर्दन राजा !

उस राजा के पृथ्वीप्रतिष्ठानपुर नगर में अत्यंत स्वामिभक्त **नयसार** नाम का ग्रामचिंतक रहता था । वह अत्यंत ही सरल व भद्रिक प्रकृति का था ।

एक बार राजा ने नयसार को जंगल में से लकडियाँ काटकर लाने के लिए आदेश दिया । राजा का आदेश मिलते ही नयसार अन्य नौकरों के साथ भोजन की सामग्री लेकर जंगल में पहुँच गया । नयसार की आज्ञानुसार नौकर लोग वृक्षों की कटाई करने लगे ।

इस प्रकार कटाई करते-करते दोपहर का समय हो गया । मध्याह्न के समय में एक ओर सूर्य तेजी से तपने लगा तो दूसरी ओर सुबह से श्रम करने के कारण सभी को तीव्र भूख लगी ।

नयसार की आज्ञा से सारी रसोई वृक्ष के नीचे लाई गई । वही पर सभी इकट्ठे हो गए ।

भोजन के पूर्व नयसार के दिल में एक विचार आया - **'इस समय कोई अतिथि-साधु-संन्यासी मिल जाय तो उन्हें भोजन कराकर फिर मैं भोजन करुं ।'**

वह चारों ओर अतिथि अर्थात् साधु महात्मा की खोज करने लगा ! उसने दूर-सुदूर तक अपनी नजर दौड़ाई । पहले तो उसे उस भीषण जंगल में एक भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया...परन्तु कुछ देर तक निरीक्षण करने पर उसे दूर से आते हुए कुछ साधु दिखाई दिए ।

धीरे धीरे वे साधु भगवंत नजदीक आए । वे अत्यंत ही भूखे-प्यासे और थके हुए थे । भयंकर गर्मी के कारण वे पसीने से लथपथ हो चूके थे । वे चारों ओर सार्थ की शोध कर रहे थे, परन्तु कहीं भी उन्हें सार्थ नजर नहीं आ रहा था ।

महात्माओं को देखते ही नयसार प्रसन्न हो गया और सोचने लगा, `अहो ! अच्छा हुआ ! इस भयंकर जंगल में साधुओं के दर्शन हो गए ।'

महात्माओं के निकट आने पर नयसार ने उन्हें प्रणाम किया और उसके बाद बोला, `प्रभो ! इस भयंकर जंगल में शस्त्रधारी व्यक्ति भी अकेला नहीं जा सकता हैं, तो फिर आप तो शस्त्ररहित हो, इस बिहावने जंगल में आप कैसे आ गए ?'

महात्माओं ने कहा, `हमने किसी सार्थ के साथ प्रयाण किया था...बीच मार्ग में किसी गाँव में हम भिक्षा के लिए गए, परन्तु उसी समय वह सार्थ आगे के लिए रवाना हो गया । हम भी सार्थ के पीछे पीछे चले, परन्तु वह सार्थ तो हमें मिला नहीं । हम मार्ग भूल गए और इस प्रकार आगे बढते हुए इस भयंकर जंगल में आ गए ।'

महात्माओं की इस बात को सुनकर नयसार ने कहा, 'अहो ! वह सार्थ बडा निर्दयी लगता है ! पाप का भी उसे भय नहीं लगा ! अहो ! वह कितना विश्वासघाती निकला ! सार्थ के साथ चलने वाले और सार्थ के भरोसे रहे साधुओं की उसने प्रतीक्षा नहीं की ?

इतना कहकर नयसार बोला, 'मेरे पुण्य से इस भयंकर जंगल में भी आपके दर्शन हो गए ।'

उसके बाद नयसार ने महात्माओं को भिक्षा लेने के लिए विनंति की । वह उन महात्माओं को उस वृक्ष के नीचे ले गया, जहाँ भोजन की सामग्री तैयार थी ।

अपने लिए बनाए गए प्रासूक भोजन में से नयसार ने उन महात्माओं की भक्ति की । गोचरी बहोरकर एकांत में जाकर उन्होंने गोचरी की ।

नयसार ने भी श्रमित महात्माओं की भक्ति कर महान् पुण्य अर्जित किया ।

गोचरी वापरने के बाद महात्माओं ने कुछ समय के लिए विश्राम किया । इधर नयसार ने भी भोजन किया ।

नयसार ने महात्माओं को कहा, 'प्रभो ! आप मेरे साथ चलिए - मैं आपको नगर का मार्ग दिखला देता हूँ ।'

वे महात्मा नयसार के साथ रवाना हुए । कुछ दूरी तक जाने के बाद नगर का मुख्य मार्ग आ गया ।

विदाई के पूर्व नयसार ने हाथ जोडकर कहा, 'प्रभो ! मेरे योग्य हितशिक्षा ?'

नयसार की योग्यता देखकर वृक्ष के नीचे बैठकर गीतार्थ गुरु भगवंत ने नयसार को जिन-धर्म का वास्तविक स्वरुप समझाया । संसार की भयंकरता और मोक्ष की भद्रंकरता के विशद स्वरुप का वर्णन किया । जिसे सुनते-सुनते नयसार का हृदय द्रवित हो उठा ! **सद्गुरु के मुख से जिनवाणी श्रवण के बाद नयसार को बाहर से सुहावना संसार अत्यंत ही डरावना प्रतीत होने लगा । उसके अन्तर्मन में संसार के प्रति वैराग्य भाव पैदा हुआ । कर्म की लघुता व भवस्थिति के परिपाक स्वरुप नयसार की आत्मा ने निर्मल सम्यग् दर्शन गुण प्राप्त किया ।**

तत्पश्चात् उन महात्माओं ने नगर की ओर अपना विहार प्रारंभ किया ।

नयसार अर्थात् भगवान महावीर की आत्मा । भगवान महावीर प्रभु ने नयसार के भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया । यह उनका पहला भव कहलाया ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद नयसार ने जीवादि तत्त्वों का अध्ययन किया । वह उन्हीं तत्त्वों की अनुप्रेक्षा करने लगा । आयुष्य की पूर्णाहुति के समय नमस्कार महामंत्र के ध्यान से उसने समाधिमृत्यु प्राप्त की और वह **दूसरे भव में सौधर्म देवलोक में एक पल्योपम की स्थिति वाला देव बना ।**

सम्यक्त्व प्राप्ति

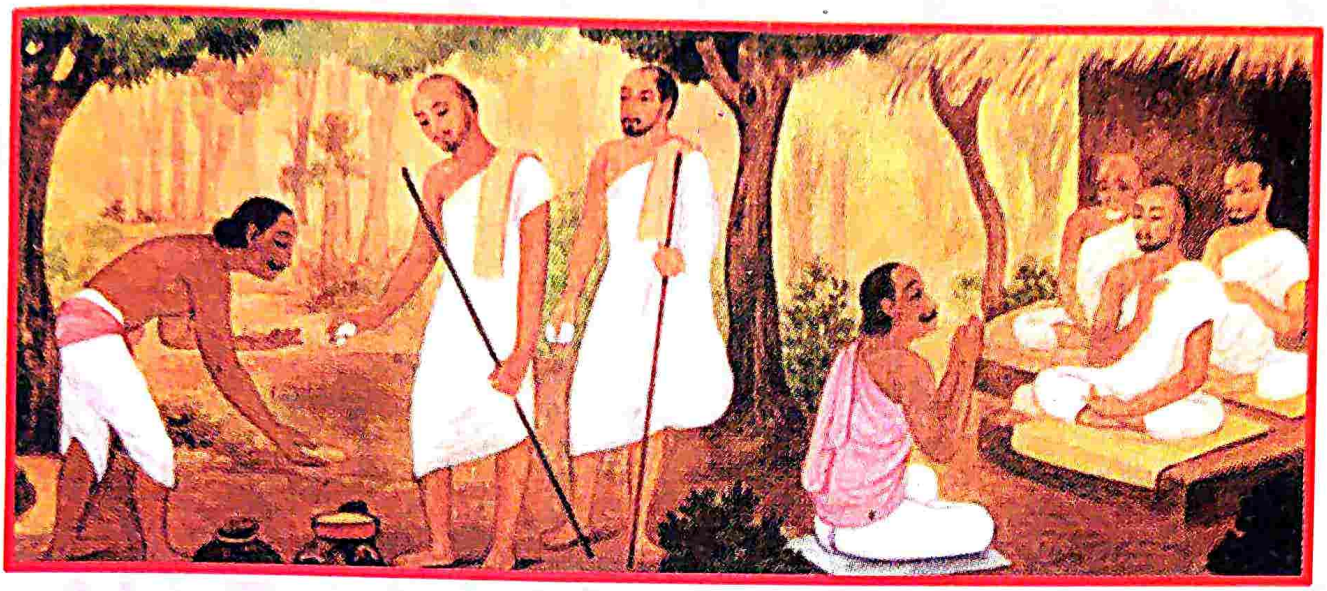

कुल-अभिमान

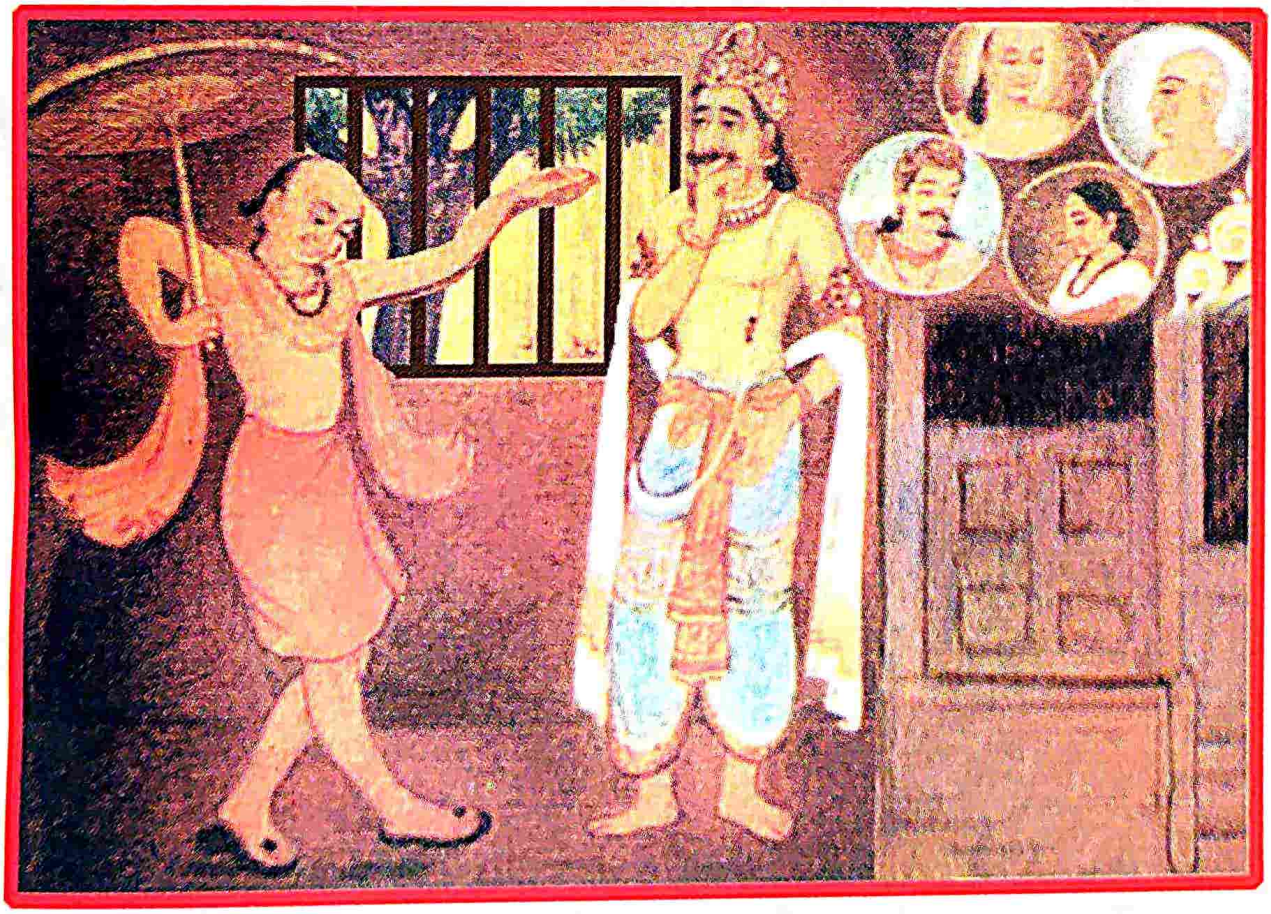

२. कुल-अभिमान (भव ३-४)

भरत क्षेत्र !

वर्तमान अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा !

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभु !

ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र भरत छः खंड का अधिपति चक्रवर्ती बना ।

...एक शुभ दिन नयसार की आत्मा सौधर्म देवलोक में से च्यवकर भरत महाराजा के पुत्र के रुप में पैदा हुई ।

बालक का नामकरण किया गया - मरीचि !

मरीचि धीरे धीरे बड़ा हुआ...उसने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया ।

एक हजार वर्ष की साधना के फ़ल स्वरुप ऋषभदेव परमात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । प्रभु के केवलज्ञान की महिमा करने के लिए करोडों देवता धरती पर उपस्थित हुए । इन्द्र आदि देवताओं ने मिलकर प्रभु के केवलज्ञान का महोत्सव किया । देवताओं ने रत्न, सुवर्ण व रजतमय तीन गढ़ से सुशोभित समवसरण की रचना की । भरत चक्री को ज्योंहि इस बात के समाचार मिले, वह भी अपनें विशाल परिवार के साथ समवसरण में उपस्थित हो गया । उस समय मरीचि भी प्रभु की देशना सुनने के लिए आया । इन्द्र और देवताओं के द्वारा प्रभु की भक्ति देखकर एवं वैराग्यरसमय धर्म देशना के श्रवण से मरीचि के मन में सर्वविरति चारित्र धर्म अंगीकार करने की भावना हुई । मरीचि ने अपनी भावना व्यक्त की और उसी समय उसने प्रभु के पास चारित्र-धर्म स्वीकार किया ।

चारित्र धर्म अंगीकार करने के बाद मरीचि रत्नत्रयी की आराधना-साधना में लीन हो गया । स्थविर महामुनियों के पास उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया ।

मरीचि मुनि ऋषभदेव प्रभु के साथ विहार करने लगे । चारित्र धर्म का पालन करते हुए कई वर्ष बीत गए ।

....परन्तु एक दिन मोहनीय कर्म उदय में आया और उनकी विचारधारा बदलने लगी । भयंकर गर्मी के दिनों में वे पृथ्वीतल पर विहार कर रहे थे । ऊपर सूर्य तप रहा था और नीचे धरती तपी हुई थी । उनका शरीर पसीने से लथपथ हो गया था । गर्मी के कारण उन्हें अत्यंत ही प्यास लगी । इस प्रकार भयंकर गर्मी के ताप व तृषा से आकुल-व्याकुल बने हुए वे सोचने लगे-`अब मैं मेरुसमान महाव्रत के भार को वहन करने में समर्थ नहीं हूँ ।' मैं तो निर्गुणी हूँ...और संसार सुख का इच्छुक हूँ...परन्तु ग्रहण किए साधु-वेष को छोडते हुए मुझे शर्म आती है । और ग्रहण किए व्रतों का विशुद्ध पालन करने में भी समर्थ नहीं हूँ, अतः अब क्या करुँ ?...इस प्रकार सोचते हुए मरीचि मुनि ने अपनी कल्पनानुसार ही अपनी आचारसंहिता तय कर दी ।

उसने सोचा, `ये श्रमण तो तीन दंड से रहित हैं, जब कि मैं तो तीनों दंड (मनदंड, वचनदंड और कायदंड) से युक्त है, अतः `त्रिदंडी' मेरा निशान रहेगा मैं केशलोच कराने में असमर्थ हूँ, अतः मैं अस्तरे से मस्तक का मुंडन कराऊंगा, और इसके प्रतीक के रुप में मस्तक पर चोटी धारण करुंगा । ये श्रमण मोह से रहित है, जब कि मैं तो मोह से आच्छादित हूँ, अतः सिर पर छत्र धारण करुंगा । अपनें पैरों के रक्षण के लिए पाद-त्राण (पावडी) धारण करुंगा । मैं कषायों से युक्त हूँ अतः काषायी रंग के वस्त्र धारण करुंगा ।

इस प्रकार अपनी मनः कल्पनानुसार वेष का निर्णय कर मरीचि ने परिव्राजक का वेष स्वीकार किया ।

मरीचि के इस विचित्र वेष को देखकर जब लोग उन्हें धर्म का स्वरुप पूछते तो वे जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट धर्म का स्वरुप समझाते ।

मरीचि के मुख से त्यागमय धर्म के स्वरुप को सुनकर लोक उनसे प्रश्न करते- 'आप जिनधर्म का उपदेश देते हो, तो फिर आप स्वयं उसका पालन क्यों नहीं करते ?'

इस प्रश्न को सुनकर सरल हृदयी मरीचि कहता, 'मैं इन महाव्रतों का पालन करने में समर्थ नहीं हूँ, परन्तु जिन्हें आत्म कल्याण करना हो, उनके लिए तो वही सच्चा मार्ग है ।'

मरीचि के उपदेश को सुनकर जो भव्य जीव प्रतिबोध पाते, उन सबको मरीचि कहता, आपको कल्याण करना है तो आप ऋषभदेव प्रभु के पास जाओ, वहीं सच्चा मार्ग है और उसी की आराधना से आपका कल्याण होगा ।'

इस प्रकार परिव्राजक वेष में रहते हुए कई वर्ष बीत गए ।

एक बार ऋषभदेव प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए विनिता नगरी में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । ऋषभदेव प्रभु के आगमन को सुनकर भरत महाराजा अपनें विशाल परिवार के साथ प्रभु को वंदन के लिए आया । भव्य जीवों के प्रतिबोध के लिए प्रभु ने वैराग्यमय धर्मदेशना प्रदान की ।

भरत ने पुछा, 'क्या इस पर्षदा में इसी भरत क्षेत्र में आपकी तरह कोई तीर्थंकर होने वाला है ?'

उस समय ऋषभदेव प्रभु ने कहा, 'तुम्हारा पुत्र मरीचि इसी भरतक्षेत्र में महावीर नाम का अंतिम तीर्थंकर होगा । यह मरीचि इसी भरत क्षेत्र में पोतनपुर नगर में त्रिपृष्ट नाम का आद्य वासुदेव होगा तथा महाविदेह क्षेत्र में मूका नगरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा ।'

इस बात को सुनकर प्रभु की अनुज्ञा लेकर भरत मरीचि के पास गया । मरीचि को तीन प्रदक्षिणा देकर वंदन करके बोला, 'ऋषभदेव प्रभु ने कहा है कि आप भरतक्षेत्र में भविष्य में तीर्थंकर बनोगे, पोतनपुर में आद्य वासुदेव बनोगे तथा महाविदेह क्षेत्र में मूका नगरी में प्रियमित्र चक्रवर्ती भी बनोगे ।

मैं आपके इस परिव्राजक वेष को वंदन नहीं करता हूँ, परन्तु भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हो, इसलिए वंदन करता हूँ ।'

मरीचि को इस बात का निवेदन कर भरत चक्री विनीता नगरी में चले गए । भरत के मुख से इस बात को सुनकर मरीचि गर्व से बोला, **'अहो ! मैं पहला वासुदेव बनूंगा । मूका नगरी में चक्रवर्ती बनूंगा और भविष्य में अंतिम तीर्थंकर भी बनूंगा । अब मुझे और क्या चाहिये ? अहो ! मेरा कुल कितना उत्तम हैं-मैं वासुदेवों में सबसे पहला वासुदेव, मेरे पिता चक्रवर्तियों में सबसे पहले चक्रवर्ती और मेरे दादा तीर्थंकरों में सबसे पहले तीर्थंकर ।'**

इस अभिमान के कारण उन्होंनें नीच गोत्र कर्म का बंध किया ।

८४ लाख पूर्व के दीर्घ आयुष्य पूर्ण कर ऋषभदेव प्रभु अष्टापद पर मोक्ष में गए । इन्द्र व देवताओं ने प्रभु के निर्वाण कल्याणक का भव्य महोत्सव किया ।

प्रभु के निर्वाण के बाद मरीचि प्रभु के अन्य साधुओं के साथ विहार करता था ।

ऋषभदेव प्रभु के साधुओं के साथ विहार करता हुआ मरीचि एक बार बिमार पडा । उसे असंयमी जानकर अन्य किसी मुनि ने उसकी सेवा-शुश्रुषा नहीं की । इससे रोषायमान होकर मरीचि सोचने लगा, 'अहो ! इन साधुओं को धिक्कार हो । ये तो दाक्षिण्यता और दया गुण से भी रहित है । इतने वर्षों से परिचित और एक ही गुरु से दीक्षित होने पर भी मेरी सेवा नहीं करते है ।'

अतः अब मैं जब व्याधि से मुक्त हो जाऊंगा तो मेरे वेष के अनुरुप ही सेवा करने वाला शिष्य बना दूंगा ।'

कुछ समय बाद मरीचि स्वस्थ हो गया ।

एक बार कपिल नाम का कुलपुत्र मरीचि के पास आया । मरीचि ने उसे जैन धर्म का उपदेश दिया । कपिल ने पूछा, 'तो फिर आप उस धर्म का पालन क्यों नहीं करते हो ?'

मरीचि ने कहा, 'मैं उसका पालन करने में समर्थ नहीं हूँ ।'

कपिल ने कहा, 'क्या आपके मार्ग में धर्म नहीं है ?'

कपिल के इस प्रश्न को सुनकर शिथिल बना हुआ शिष्य का इच्छुक मरीचि बोला, 'कपिल ! जैन मार्ग में भी धर्म है और यहाँ भी धर्म है ।'

बस, इस प्रकार के मिथ्या उपदेश के कारण मरीचि सम्यक्त्व से भ्रष्ट बना और उसने एक कोटाकोटि सागरोपम का संसार बढा दिया ।

अपनें उत्सूत्र भाषण के पाप की आलोचना किए बिना ही मरीचि **चोथे भव में ब्रह्म देवलोक में दश सागरोपम की स्थितिवाला देव बना ।**

पांचवां भव : देवलोक में अपने आयुष्य को पूर्ण कर मरीचि का जीव कोल्लाक संनिवेश में ८० लाख पूर्व की स्थितिवाला **कौशिक** नाम का ब्राह्मण बना । वह विषयों में अत्यंत ही आसक्त था और धन के पीछे पागल था । हिंसादि पाप प्रवृत्तियों में दीर्घकाल पूर्ण कर अंत में त्रिदंडी बना और **वहाँ से मरकर उसने बहुत से भवों में परिभ्रमण किया ।**

छट्ठा-सातवां भव छट्ठे भव में स्थूण नाम के संनिवेश में **पुष्पमित्र** नाम का ब्राह्मण बना । अंत में त्रिदंडी बनकर ७२ लाख पूर्व के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर **सातवें भव** में **सौधर्म देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना ।

आठवाँ-नौवां भव :- देवलोक से च्यवकर चैत्य संनिवेश में **अग्नि उद्योत** नाम का ब्राह्मण बना । अंत में त्रिदंडी बनकर ६४ लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर नौवें भव में **ईशान देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना ।

दसवा-ग्यारहवाँ भव :- देवलोक में से च्यवकर वह मंदिर संनिवेश में **अग्निभूति** नामक का ब्राह्मण बना । अंत में वह त्रिदंडी बनकर ५६ लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर **तीसरे सनत्कुमार देवलोक** में मध्यम आयुष्य की स्थितिवाला देव बना ।

बारहवाँ-तेरहवाँ भव :- देवलोक से च्यवकर श्वेतांबी नगरी में **भारद्वाज** नाम का ब्राह्मण बना । वहाँ भी अंत में त्रिदंडी बनकर ४४ लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर **माहेन्द्र (चोथे) देवलोक** में मध्यम स्थिति का देव बना । **वहां से च्यवकर संसार में खूब भटके ।**

१४ वाँ और १५ वाँ भव :- फिर १४ वे भव में राजगृही नगरी में **स्थावर** नाम का ब्राह्मण बना । वहाँ भी अंत में त्रिदंडी बनकर ३४ लाख पूर्व के आयुष्य को पूर्ण कर १५ वें भव में **पांचवें ब्रह्मदेवलोक** में देव बना ।

ब्रह्म देवलोक से च्यवकर मरीचि का जीव अनेक भवों तक इस संसार में भटका ।

३. खतरनाक निदान

(भव १६-१७)

राजगृही नगरी में विश्वनंदी नाम का राजा राज्य करता था । उस राजा की प्रियंगु नाम की महारानी की कुक्षी से विशाखानंदी नाम के पुत्र का जन्म हुआ । विश्वनंदी महाराजा का छोटा भाई युवराज विशाखाभूति था, उसकी पत्नी का नाम धारिणी था । मरीचि का जीव युवराज विशाखाभूति की पत्नी धारिणी की कुक्षी में पुत्र के रुप में पैदा हुआ । बालक का नाम **'विश्वभूति'** रखा गया ।

धीरें धीरें विश्वभूति बडा होने लगा । शस्त्र और शास्त्र कलाओं में निपूण बना । यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के बाद किसी नवयौवना रुपवती राजकन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ ।

एक दिन विश्वभूति अपनी पत्नी के साथ पुष्पकरंडक नाम के उद्यान में क्रीडा कर रहा था । इधर विशाखानंदी के दिल में भी उस उद्यान में क्रीडा करने की इच्छा पैदा हुई...परन्तु उस उद्यान में पहले से ही विश्वभूति होने से विशाखानंदी उद्यान में प्रवेश नहीं कर सका ।

अपनें पुत्र विशाखानंदी की महेच्छा पूर्ण करने के लिए राजा ने सोंचा, 'विश्वभूति युद्ध-प्रिय हैं, अतः यदि युद्ध की भेरी बजाई जाय तो उस भेरी को सुनकर विश्वभूति उद्यान में से बाहर निकल सकता है और उसके बाहर निकलने के बाद विशाखानंदी आसानी से उद्यान में प्रवेश कर सकेगा ।' इस प्रकार विचार कर विश्वनंदी ने युद्ध की भेरी बजवा दी । राजसभा में भी घोषणा कर दी कि पुरुषसिंह नाम का सामंत उद्दंडी बन गया है, अतः उसे जीतने के लिए मैं प्रयाण करता हूँ ।'

इधर उद्यान में रहे विश्वभूति के कानों में जैसे ही युद्ध की भेरी के शब्द पडे, तुरंत ही वह युद्ध के लिए सज्ज बन गया । उद्यान छोडकर युद्ध में जाने के लिए तैयार हो गया । युद्ध के लिए प्रयाण कर रहे राजा को भक्तिपूर्वक रोककर वह स्वयं चलने लगा ।

परन्तु यह क्या ? पुरुषसिंह तो राजा की आज्ञा के अधीन ही था, अतः विश्वभूति तुरंत ही वापस लौट गया और वह सीधा ही पुष्पकरंडक उद्यान की ओर जाने लगा । जैसे ही वह उद्यान में प्रवेश करने लगा, द्वारपाल ने उसे रोक दिया और कहा, 'अभी विशाखा-नंदी भीतर हैं, अतः आप अंदर न जाय ।'

विश्वभूति को यह सारा नाटक समझते देर नहीं लगी । वह सब समझ गया कि मुझे उद्यान में से बाहर निकालने का ही षड्यंत्र था ।

उसी समय उसने द्वारपाल के सामने ही कपित्थ के वृक्ष पर जोर से मुट्ठी का प्रहार किया, उस मुट्ठी के प्रहार से वृक्ष पर रहे सारे फल भूमि पर गिर पडे । गिरे हुए उन फलों को बताते हुए विश्वभूति ने कहा, **'माया-कपट कर भोग सुखों को पाने की मेरी कोई इच्छा नहीं है ।'**-इस प्रकार विचार कर विश्वभूति वहाँ से निकल गया और उसने संभूति मुनि के पास जाकर भागवती दीक्षा ले ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद विश्वभूति ने कठोर साधना प्रारंभ की । मासक्षमण आदि उग्र तप द्वारा उन्होंने अपनी काया को एकदम कृश बना दी । तप धर्म की उत्कट साधना के साथ-साथ वे सम्यग् ज्ञान की साधना में भी प्रयत्नशील बने इसके फलस्वरुप वे ग्यारह अंगों के ज्ञाता बन गए । अपने गुरुदेव की अनुज्ञा लेकर एकाकी विहार करने लगे । एकांत व निर्जन स्थल में एकाकी प्रतिमा धारण करने लगे । इस प्रकार पृथ्वीतल को पावन करते हुए वे मथुरा पधारे ।

उस समय मथुरा के महाराजा की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने के लिए विशाखानंदी भी रथ में बैठकर मथुरा आया हुआ था । उसी समय विश्वभूति ने मासक्षमण के पारणे के लिए नगर में प्रवेश किया । दीर्घ व उत्कृष्ट तप के कारण विश्वभूति मुनि की काया एकदम कृश बनी हुई थी । वे मंद गति से ईर्यासमिति के पालन पूर्वक धीरे धीरे आगे बढ रहे थे । अचानक सामने से भडकती हुई एक गाय आयी और विश्वभूति मुनि से टकरा गई । गाय का धक्का लगने के साथ ही विश्वभूति मुनि भूमि पर गिर पडे । विश्वभूति जैसे ही भूमि पर गिरे, उसी समय विशाखानंदी के साथियों ने विशाखानंदी को यह दृश्य बतलाया । इस दृश्य को देखते ही विशाखानंदी ने अट्टहास किया और विश्वभूति को संबोधित करते हुए बोला, **'ओ मुनि ! कहा गया वह तुम्हारा बल ? एक ही मुट्ठी के प्रहार से कपित्थ के वृक्ष पर से सभी फलों को भूमि पर नीचे गिरा देने का तुम्हारा पराक्रम कहाँ चला गया ?'**

विशाखानंदी के मुख से इन कटु शब्दों को सुनकर विश्वभूति का गुस्सा आसमान पर चढ़ गया । उसने सोचा, 'दुनिया में शक्ति की ही पूजा है । शक्तिशाली को सभी झुकते हैं और कमजोर पर सभी हावी होते हैं ।' इस प्रकार विचार कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए विश्वभूति मुनि खडे हुए और उन्होंने अपने दोनों हाथों से गाय के दोनों सिंग पकडे और उस गाय को घूमाकर आकाश में उछाल दी । पुनः गिरती हुई गाय को अपने दोनों हाथों मे ले ली ।'

दुबली-पतली काया वाले विश्वभूति मुनि के इस पराक्रम को देखकर विशाखानंदी एकदम घबरा गया ।

इतनी दुबली-पतली काया के द्वारा जो इस बलवान् गाय को भी इस प्रकार आकाश में उछाल सकता हैं तो मेरी क्या हालत कर देगा ? - इस भय से विशाखानंदी तुरंत ही वहाँ से भाग गया ।

विशाखानंदी को भागते देखकर विश्वभूति ने सोचा, 'हा ! यह दुनिया शक्ति की ही पुजारिन है, जो शक्तिशाली है, उसे सारी दुनिया झुकती है और कमजोर पर सभी सवार होते है'-इस प्रकार विचार कर विश्वभूति मुनि ने नियाणा (निदान) करते हुए संकल्प किया **'आज तक मैंने जो उग्र तप किया है, उस तप के फल स्वरुप मैं आगामी भव में महा पराक्रमी बनूं और भवांतर में इसकी (विशाखानंदी) हत्या करने वाला बनूं ।'**

अपनें किए हुए निदान के अपराध की आलोचना किए बिना विश्वभूति काल धर्म को प्राप्त हुए । और १७ वें भव में वे सातवें महाशुक्र विमान में उत्कृष्ट आयुष्यवाले देव बनें ।

४. त्रिपृष्ट वासुदेव (भव-१८)

भरत क्षेत्र !

पोतनपुर नगर !!

प्रजापति राजा !!!

महाशुक्र विमान में अपने आयुष्य को पूर्ण कर एक दिन विश्वभूति की आत्मा का देवलोक में से च्यवन हुआ और प्रजापति राजा की मृगावती रानी की कुक्षी में अवतरण हुआ। उसी समय मृगावती रानी ने सात उत्तम स्वप्न देखे ।

एक शुभ दिन बालक का जन्म हुआ और बालक का 'त्रिपृष्ट' नामकरण किया गया। त्रिपृष्ट के बडे भाई का नाम था अचल। अचल व त्रिपृष्ट धीरें-धीरें बडे होने लगे। वय की वृद्धि के साथ-साथ वे शस्त्र और शास्त्रकला में भी निपूण बनें ।

उस समय तीन खंड का अधिपति प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव था। एक दिन एक कुशल निमित्तज्ञ उसकी राजसभा में आया। इधर विशाखानंदी का जीव अनेक भवों में भटककर तुंगगिरि पर्वत पर सिंह के रुप में पैदा हुआ। वह सिंह शंखपुर नगरवासियों को खुब परेशान करता था।

अश्वग्रीव राजा ने निमित्तज्ञ को पुछा, 'मेरी मृत्यु किसके हाथों से होगी ?'

निमित्त का विचार कर निमित्तज्ञ ने कहा, 'जो व्यक्ति तुंगगिरि पर रहे सिंह को सरलता से मार देगा, उसी के हाथों से आपकी मृत्यु होगी।'

अपने हत्यारे का पता लगाने के लिए अश्वग्रीव राजा ने शंखपुर नगर में चावल की खेती कराई और उसकी रक्षा के लिए बारी-बारी से अन्य-अन्य राजाओं को आदेश दिया।

अश्वग्रीव राजा ने प्रजापति राजा को आज्ञा दी कि 'तुम्हें शंखपुर नगर के खेतों की रक्षा के लिए वहाँ जाना है।'

आदेश मिलते ही प्रजापति राजा ने अपने पुत्रों को कहा, 'तुम्हारे अपराध के कारण अश्वग्रीव सम्राट् कुपित हुआ है, इस कारण सिंह से रक्षण करने के लिए आज्ञा फरमाई है।' - इतना कहकर प्रजापति राजा शंखपूर नगर की ओर प्रयाण करने लगा। तभी दोनों पुत्रों ने पिता को रोकते हुए कहा, 'आपको वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। हम दोनों वहां जायेंगे।' दोनों राजकुमारो के अति आग्रह को देखकर राजा ने उन दोनों को शंखपुर जाने के लिए अपनी सम्मति दे दी।

पिता की आज्ञा मिलते ही रथ में आरुढ होकर दोनों राजकुमार शंखपुर नगर पहुँच गए।

त्रिपृष्ट के पुछने पर उन किसानों ने तुंगगिरि पर्वत की गुफा में से बाहर आता सिंह बतला दिया। सिंह को दूर से देखते ही वे दोनों राजकुमार रथ में आरुढ होकर उस गुफा की ओर आगे बढे। वे दोनों राजकुमार उस गुफा के पास पहुँचे, लोगों की आवाज सुनकर

वह सिंह गुफा में से बाहर आया ।

त्रिपृष्ट ने सोचा, 'मैं रथ में आरुढ हूँ-और यह पैदल आ रहा है, अतः मुझे भी रथ में से नीचे उतर जाना चाहिये'-इस प्रकार विचार कर वह रथ में से नीचे उतर गया ।

उसके बाद त्रिपृष्ठ ने सोचा, 'अहो ! मेरे पास शस्त्र है, जब कि यह तो शस्त्ररहित है'-इस प्रकार विचार कर उसने अपनें हाथ में रहा शस्त्र भी फेंक दिया और वह खाली हाथ ही उस सिंह की ओर आगे बढ़ा ।

त्रिपृष्ट को इस प्रकार खाली हाथ आते देखा । वह सिंह सोच में पड गया...सोचते सोचते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया ।

उसने सोचा, 'अहो ! इसकी धृष्टता कैसी है ? यह अकेला ही मेरी गुफा के पास आया है । रथ में से नीचे उतर गया है और इसने सारे शस्त्र फेंक दिए है । अहो ! मद में अंध बने हुए हाथी की भांति इसे खत्म कर इसके मद को दूर कर देता हूँ ।'-इस प्रकार विचार कर उस सिंह ने गर्जना कर उस त्रिपृष्ट के ऊपर प्रहार करने के लिए जैसे ही पंजा उठाया, उसी समय उस पराक्रमी त्रिपृष्ट ने अपनें दोनों हाथों से उसके दोनों जडबे पकड लिए और एक जीर्ण वस्त्र की भांति उस सिंह को फाड डाला । उसी समय देवताओं ने आकाश में से पुष्प, आभरण व वस्त्र की वृष्टि की । लोगों ने भी यह अद्‌भुत आश्चर्य देखा और वे भी आश्चर्यचकित हो गए ।

वह सिंह मरकर चौथी नरक में गया । वे दोनों राजकुमार सिंह-चर्म को लेकर अपने नगर की ओर आगे बढे । उस समय उन्होंने वहाँ के ग्रामीण लोगों को कहा, 'तुम लोग जाकर उस अश्वग्रीव को कह देना कि तुम निश्चिंत होकर चावल खा सकोगे, क्योंकि तुम्हारे हृदय के शल्यभूत उस केसरी सिंह को त्रिपृष्ट ने मार डाला है ।'-इतना कहकर वे दोनों राजकुमार पोतनपुर चले गए ।

गाँववालों ने जाकर अश्वग्रीव राजा को सब बात बतला दी ।

अश्वग्रीव राजा अब शंकातुर हो गया । वह माया और कपट से उन दोनों राजकुमारों को खत्म करने का उपाय सोचने लगा ।

एक दिन उसने प्रजापति राजा पर एक दूत भेजा । दूत ने जाकर प्रजापति को कहा कि आपके दोनों पुत्रों को महाराजा ने बुलाया है, वे उन्हें अलग-अलग राज्य देना चाहते हैं ।'

प्रजापति ने कहा, 'राजपुत्रों का क्या काम है, मैं स्वयं ही वहाँ चला आता हूँ ।'

दूत ने कहा, 'यदि आप दोनों राजकुमारों को भेजने के लिए तैयार नहीं हो तो युद्ध के लिए तैयार हो जाओ ।'

दूत के आक्रोशपूर्ण वचनों को सुनकर उन दोनों कुमारों ने उस दूत का भयंकर अपमान कर नगर से बाहर निकाल दिया ।

दूत ने जाकर वह सारी बात अश्वग्रीव राजा को सुना दी ।

बस, दूत की बात सुनते ही अश्वग्रीव कोपातुर हो गया । वह युद्ध के लिए तैयार हो गया । अपने विशाल सैन्य के साथ उसने युद्ध भूमि की ओर प्रयाण प्रारंभ किया । इधर त्रिपृष्ट और अचल भी अपने विराट् सैन्य के साथ युद्धभूमि में आ गए ।

दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ । शस्त्रों के प्रहार से युद्धभूमि में हजारों सैनिकों के मस्तक भूमि पर गिरने लगे । देखते ही देखते वह युद्धभूमि रक्तरंजित हो गई । गिद्ध आदि हिंसक प्राणी मिजबानी उडाने लगे । दोनों सेनाओं की अत्यधिक कतल के बाद अश्वग्रीव और त्रिपृष्ट दोनों आमने-सामने आ गए । आखिर अन्य शस्त्रों के निष्फल जाने पर अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ट की ओर अपना अंतिम शस्त्र **'चक्र'** फेंका । परन्तु उस चक्र का त्रिपृष्ट पर कुछ भी असर नहीं हुआ । त्रिपृष्ट के पुण्य प्रभाव से वह चक्र उसके हाथ में आ गया । बस, उस समय त्रिपृष्ट ने अश्वग्रीव को खत्म करने के लिए वह चक्र फेंका...और उस चक्र ने जाकर अश्वग्रीव के गले को काट डाला । तत्काल अश्वग्रीव भूमि पर गिर पडा । तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गई ।

उसी समय देवताओं ने पुष्पवृष्टि की । अचल को बलदेव और त्रिपृष्ट को वासुदेव घोषित किया ।

अश्वग्रीव की मृत्यु के बाद त्रिपृष्ट तीन खंड का अधिपति वासुदेव बना । तीन खंड के सभी छोटे-बडे राजा उसके अधीन बन गए और उसकी आज्ञा को मस्तक पर चढाने लगे । सर्वत्र त्रिपृष्ट का साम्राज्य छा गया ।

५. भयंकर कर्मबंध

(भव १८-१९-२०-२१-२२)

तीन खंड का अधिपति त्रिपृष्ट वासुदेव !

एक दिन त्रिपृष्ट की राजसभा में सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ अपनी विशाल मंडली के साथ उपस्थित हुआ । संगीतकार की भाववाही स्वर लहरियों से त्रिपृष्ट प्रसन्न हो गया ।

त्रिपृष्ट अपनी शय्या पर सोने की तैयारी कर रहा था, तभी उस संगीतज्ञ का प्रोग्राम चालू हुआ । कुछ देर तो त्रिपृष्ट ने उस संगीत का आनंद लिया, उसके बाद उसे नींद आने लगी । त्रिपृष्ट ने अपनें शय्यापालक को पहले से ही सूचना कर दी कि ज्योंहि मुझे नींद आ जाय त्यों हि संगीत बंद करा देना ।

इधर त्रिपृष्ट वासुदेव को थोडी देर बाद नींद आ गई...परन्तु शय्यापालक को संगीत के श्रवण में खूब मजा आ गई...परिणामस्वरुप वह महाराजा की आज्ञा भूल गया । संगीत चलता रहा...समय का प्रवाह आगे बढने लगा ।

कुछ ही घंटों बाद अचानक त्रिपृष्ट की आंख खुल गई । उसने देखा, 'संगीत अभी भी चल रहा है । शय्यापालक ने मेरी आज्ञा का पालन नहीं किया ।' त्रिपृष्ट वासुदेव एकदम गुस्से में आ गए ।

'मेरी आज्ञा के प्रति इतनी उपेक्षा ! संगीत के श्रवण में मेरी आज्ञा को भूल गया !! अब देख ले तूं भी मेरी आज्ञा भंग के परिणाम को !'...उसी समय त्रिपृष्ट वासुदेव ने आज्ञा फरमाई-'इस शय्यापालक कानों में गर्म-गर्म सीसे का रस डाल दिया जाए।'

बस, वासुदेव की आज्ञा होते ही उस शय्यापालक के कानों में गर्म-गर्म सीसे का रस डाल दिया गया। भयंकर वेदना से उसकी मृत्यु हो गई।

इधर त्रिपृष्ट की आत्मा ने इस पापाचरण के कारण निकाचित कर्म का बंध किया। जो कर्म अनेक भवों तक सत्ता में रहने के बाद अंतिम महावीर प्रभु के भव में उदय में आया और उस भव में वो ही शय्यापालक गोवाल बना, जिसने निर्दोष ऐसे प्रभु के कानों में कीलें ठोकी।

हिंसा, महा-आरंभ-परिग्रह आदि घोर पापाचरण के द्वारा त्रिपृष्ट वासुदेव ने भयंकर अशुभ कर्मों का बंध दिया। ८४ लाख वर्ष के अपनें आयुष्य को पूर्ण कर त्रिपृष्ट मरकर **१९ वें भव में ७ वी नरक** में चला गया।

भाई की मृत्यु के बाद अचल बलदेव ने दीक्षा अंगीकार की निरतिचार सुविशुद्ध संयम धर्म का पालन कर वे मोक्ष में चले गए।

त्रिपृष्ट की आत्मा ७ वीं नरक में से निकल कर **२० वें भव में सिंह** बनी। हिंसादि पापों के कारण वह **सिंह मरकर २१ वें भव में चौथी नरक** में चला गया।

चौथी नरक में से निकलकर छोटे मोटे अनेक भवों में भटकी। उसके बाद २२ वें भव में मनुष्य बनें। वहाँ शुभ कर्म की प्रवृत्ति की।

भगवान महावीर प्रभु का....

दीक्षा समय	:	दिन का चौथा प्रहार
दीक्षा दिन	:	मगसर वदी १०
दीक्षा समय उम्र	:	३० वर्ष
दीक्षा समय तप	:	छट्ठ
दीक्षा गांव	:	क्षत्रियकुंड
दीक्षा वन	:	ज्ञातखंडवन
दीक्षा वृक्ष	:	अशोकवृक्ष
देवदूष्य स्थिति काल	:	१३ मास
प्रथम पारणा	:	दूसरे दिन क्षीर से गृहस्थ के पात्र में

भयंकर निदान

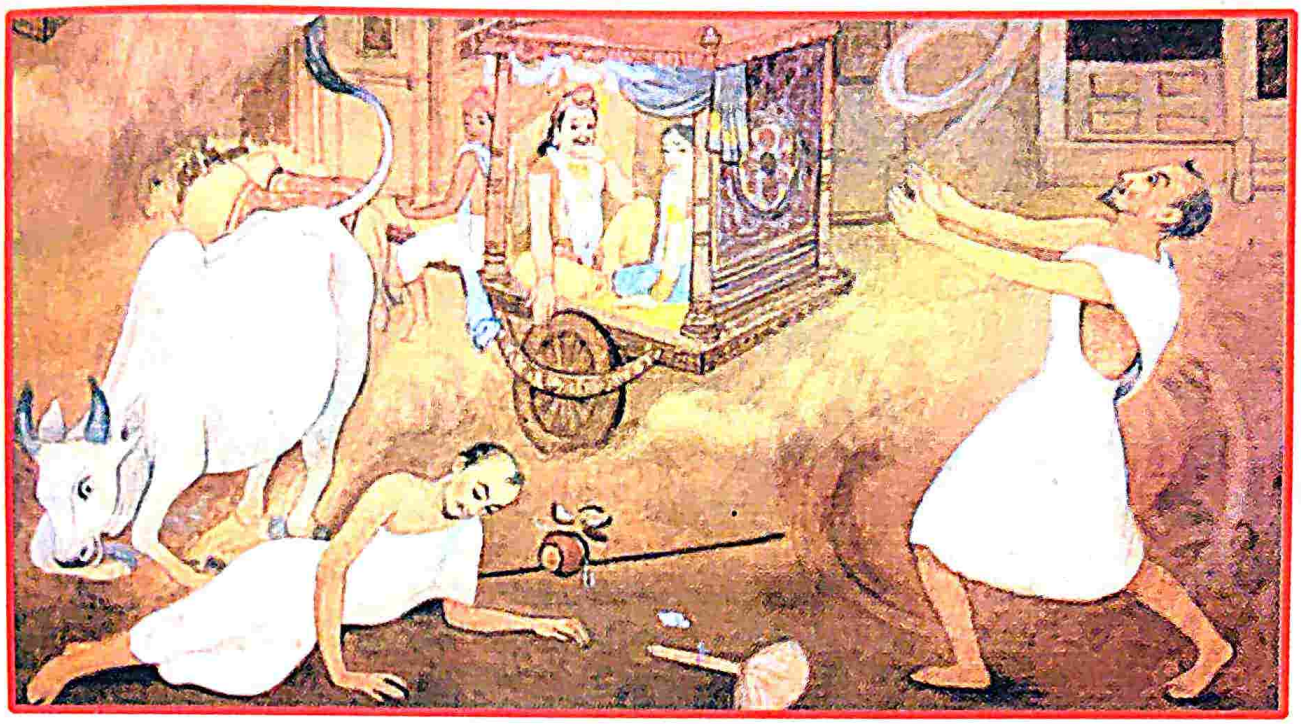

भयंकर कर्मबंध

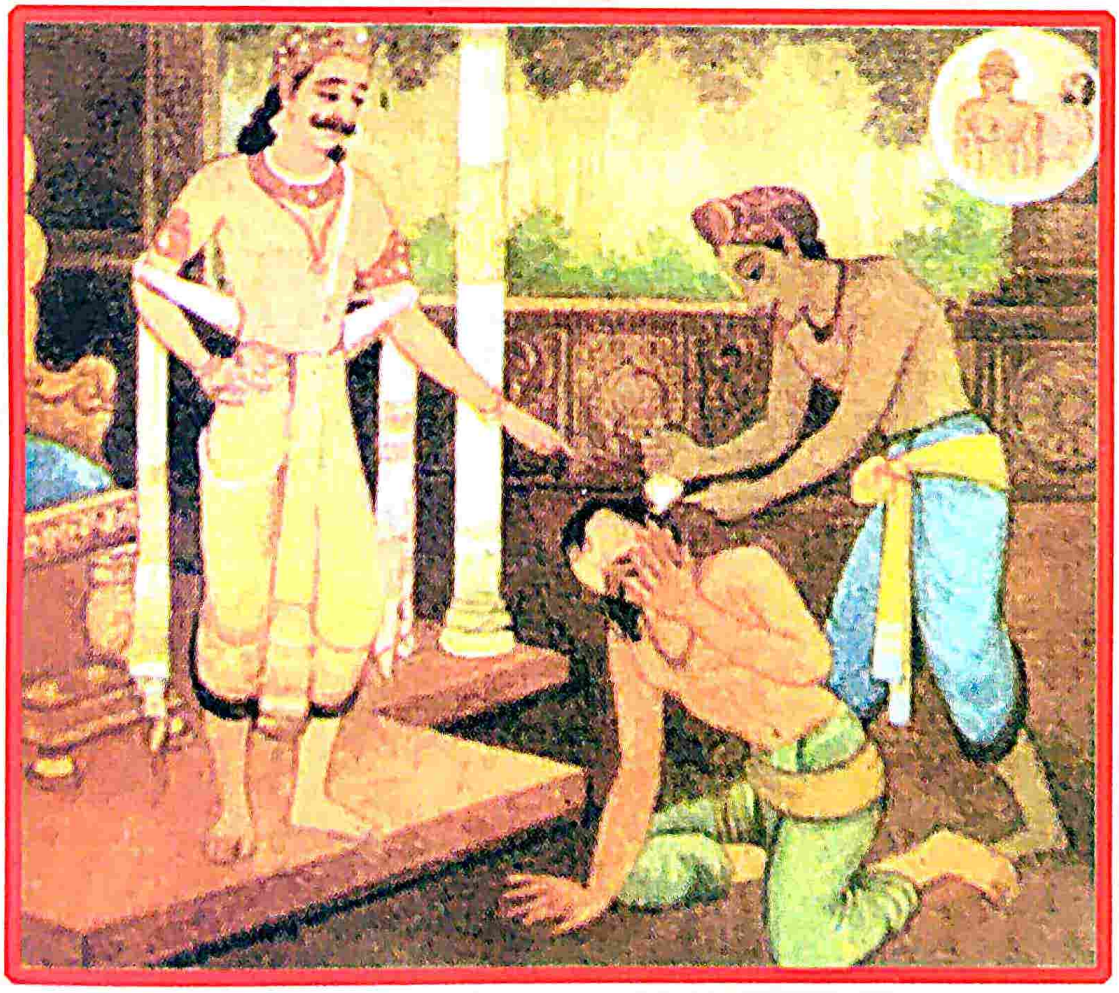

६. प्रिय मित्र-चक्रवर्ती

(भव २३-२४)

पश्चिम महाविदेह !

मूका नगरी ! धनंजय राजा !! धारिणी महारानी !

त्रिपृष्ट की आत्मा का धारिणी महारानी की कुक्षी में अवतरण हुआ। धारिणी महारानी ने चौदह महास्वप्न देखें। एक शुभ दिन धारिणी माता ने तेजस्वी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। दासी ने आकर महाराजा को पुत्र-जन्म की बधाई दी...राजा ने अपना कीमति हार दासी को भेंट देकर सदा के लिए उसका दारिद्र्य दूर कर दिया। नगर में चारों ओर पुत्र-जन्म का भव्य महोत्सव किया गया।

राजा ने पुत्र का नाम रखा-प्रियमित्र ! दूज के चांद की भांति प्रियमित्र बड़ा होने लगा। वय की वृद्धि के साथ ही उसकी शिक्षा प्रारंभ हुई। यौवन के प्रांगण में प्रवेश करने के साथ ही वह समस्त शस्त्र व शास्त्र कलाओं में निपूण बन गया।

एक दिन उस नगर में आचार्य भगवंत का आगमन हुआ। आचार्य भगवंत की वैराग्य सभर धर्मदेशना धनंजय राजा के अन्तर्मन को छू गई...उनका हृदय वैराग्य से भर आया और एक शुभ दिन अपनें पुत्र प्रियमित्र को राजगद्दी पर स्थापित कर वे अरिहंत परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट चारित्र-मार्ग के पथिक बन गए।

एक दिन प्रियमित्र अपनें सैन्य को साथ लेकर छः खंड को जीतने के लिए चल पडा।...कुछ ही वर्षों में उसने छः खंड पर विजय प्राप्त कर ली। प्रियमित्र चक्रवर्ती बना। देवता व प्रजाजनों ने बारह वर्ष तक चक्रवर्ती के राज्याभिषेक का भव्य महोत्सव किया। प्रियमित्र न्याय व नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करने लगा।

धीरे-धीरे समय का प्रवाह आगे बहने लगा।...और एक शुभ दिन मूका नगरी में पोट्टिलाचार्य का आगमन हुआ। उनकी अमृतमयी धर्म देशना के श्रवण के साथ ही प्रियमित्र के मन में वैराग्य की ज्योत पैदा हुई...उन्हें यह संसार अत्यंत भयंकर प्रतीत होने लगा। और एक शुभ दिन अपनें पुत्र को राज्य पर स्थापित कर पोट्टिलाचार्य के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली। वे अगारी मिटकर अणगार बन गए...भोगी मिटकर योगी बन गए।

बस...दीक्षा अंगीकार करने के बाद वे रत्नत्रयी की आराधना-साधना में एकदम लीन बन गए। एक करोड वर्ष के संयम पर्याय के साथ उन्होंने कठोर तपश्चर्याएं की...उसके बाद ८४ लाख पूर्व वर्ष के अपनें दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर वे **२४ वें भव में सातवें शुक्र देवलोक** में ऋद्धिमान देव बनें।

७. तीर्थंकर नाम कर्म निकाचना

(भव २५-२६)

शुक्र देवलोक में अपनें दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर इसी भरत क्षेत्र में छत्रा नाम की नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा देवी की कुक्षी में प्रियमित्र की आत्मा का अवतरण हुआ । बालक का नामकरण **'नंदन'** किया गया । धीरें-धीरें नंदन बडा हुआ और सभी कलाओं में निपूण बना । जितशत्रु राजाने सुयोग्य जानकर नंदन को राजगद्दी सौंप दी और स्वयं ने गुरु भगवंत के चरणों में जाकर भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

नंदन राजा न्याय और नीति पूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । धीरें-धीरें समय बीतने लगा । नंदन राजा के २४ लाख वर्ष गृहस्थ जीवन में बीत गए ।...और एक शुभ दिन छत्रा नगरी में पोट्टिलाचार्य गुरु भगवंत का आगमन हुआ । उनकी धर्म देशना के श्रवण के साथ ही नंदन राजा के दिल में भागवती दीक्षा की भावना पैदा हुई । उन्हें यह संसार असार प्रतीत होने लगा...। उन्होंने पोट्टिलाचार्य के पास भागवती दीक्षा अंगीकार कर ली ।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद नंदन मुनि ने मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की उग्र तपश्चर्या प्रारंभ की । तप धर्म के साथ वे निर्मल संयम धर्म का पालन करने लगे । वे आर्त और रौद्र ध्यान से मुक्त हो गए ।

छः जीवनिकाय के रक्षण में वे सदैव जागरुक रहने लगे । बारह प्रकार के बाह्य व अभ्यंतर तप की साधना में वे अत्यंत ही रहने लगे ।

इस प्रकार निरतिचार-विशुद्ध चारित्र धर्म की आराधना करते हुए १ लाख वर्ष बीत गए । अपनें देह को जर्जरित जानकर नंदन मुनि ने अपनी अंतिम आराधना की । अपनी आत्मा को भावित करते हुए उन्होंने दुष्कृत की निंदा की-।

अंत में उन्होंने यावज्जीव (जीवनपर्यंत) चारों प्रकार के आहार का त्याग कर अपनें शरीर को भी वोसिरा दिया ।

नंदन मुनि ने धर्माचार्य तथा अन्य साधु-साध्वी भगवंतों के साथ क्षमायाचना की ।

उन्होंने ११,८०,६४५ मांसक्षमण द्वारा बीसस्थानक की आराधना व सभी जीवों को शासन रसिक बनाने की उत्कृष्ट भावना द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित किया और अंत में ६० दिन का अनशन करके २५ लाख वर्ष के दीर्घ आयुष्य को पूर्ण कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त हुए । वे दसवें प्राणत देवलोक में पुष्पोत्तर नाम के विमान में देव बनें ।

नंदन ऋषि का जीव देवभव में दिव्य सुखों के बीच भी अत्यंत विरक्तता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा ।

८. देवानंदा की कुक्षी में... (भव २७)

जंबुद्वीप ! दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र !!

भारत देश !!! ब्राह्मणकुंड गांव !!!

अवसर्पिणी काल के चोथे आरे की समाप्ति में ७५ वर्ष व ८.५ मास बाकी थे।

उस गांव में ऋषभदत्त नाम का ब्राह्मण पंडित रहता था, जिसकी पत्नी का नाम देवानंदा था। वे अत्यंत ही सदाचारी व न्यायप्रिय थे।

असाढ़ सुदी ६ का शुभ दिन !

दसवें प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान में एक दिव्यात्मा (भगवान महावीर की आत्मा) ने अपनें बीस सागरोपम का दीर्घ आयुष्य पूर्ण किया। उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर मध्य रात्रि में देवानंदा की कुक्षी में गर्भ के रुप में उनका अवतरण हुआ।

देवलोक में से देवानंदा की कुक्षी में च्यवन होने पर प्रभु महावीर की आत्मा मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों से युक्त थी।

जिस रात्रि में देवानंदा की कुक्षी में श्रमण भगवान महावीर की आत्मा का अवतरण हुआ, उस समय देवानंदा ब्राह्मणी अर्द्ध जागृत अवस्था में थी...उसने अत्यंत ही प्रशस्त, कल्याणकारी, मंगलकारी चौदह महास्वप्न देखें।

पहले स्वप्न में उसने हाथी देखा, दूसरे में वृषभ, तीसरे स्वप्न में सिंह, चौथे में लक्ष्मी, पांचवें में फूल की माला, छट्ठे स्वप्न में चंद्र, सातवें में सूर्य, आठवें में ध्वजा, नौवें में कलश, दसवें में पद्मसरोवर, ग्यारहवें में समुद्र, बारहवें में देवविमान, तेरहवें में रत्नों का ढेर व चौदहवें स्वप्न में निर्धूम अग्नि देखी।

इन उत्तम स्वप्नों को देखकर देवानंदा ब्राह्मणी एकदम खुश हो गई। अपनें जीवन में पहली बार ही उसने ऐसे महान् स्वप्नों को देखा था, अतः इन स्वप्नों को देखकर वह आश्चर्यचकित हो गई। उसका मन प्रसन्नता से भर आया। उसका हृदय उल्लसित हो उठा। शय्या पर बैठकर उसने पुनः १४ स्वप्नों को याद किया और उसके बाद चंचलता रहित गति से ऋषभदत्त के शयनखंड की ओर गई। अपनें पतिदेव को जय-विजय से बधाई दी। उसके बाद योग्य आसन पर बैठकर हाथ जोडकर कहती है-

'हे देवानुप्रिय ! आज शय्या में अर्द्ध जागृत अवस्था में मैंने १४ महास्वप्न देखे हैं।'

इतना कहकर देवानंदा ने स्वप्न में देखे हाथी आदि १४ महास्वप्नों का वर्णन किया। उसके बाद बोली, 'हे देवानुप्रिय ! इन स्वप्नों का क्या फलविशेष होगा ?'

उन स्वप्नों के फल का निर्णय कर ऋषभदत्त बोला, 'हे देवानुप्रिया ! तूने जो स्वप्न देखे हैं। उन स्वप्नों के फलस्वरुप तुझे अर्थ व धन का लाभ होगा तथा पुत्र की प्राप्ति होगी। नौ मास व ७.५ दिन व्यतीत होने के बाद तूं सुकोमल, चंद्र समान सौम्य आकृतिवाले पुत्ररत्न को जन्म देगी।

हे देवानुप्रिया ! तूं ने मंगल व कल्याणकारी स्वप्न देखे हैं।'

ऋषभदत्त के मुखारविंद से स्वप्नों के फलादेश को सुनकर देवानंदा खुश हो गई और हाथ जोडकर कहने लगी, 'देवानुप्रिय ! आपने जो स्वप्नों के फल कहे हैं, वे यथार्थ हैं और मुझे इष्ट है।' इतना कहकर अपने पतिदेव की आज्ञा प्राप्त कर देवानंदा पुनः अपनें शयन खंड में चली गई। उसने शेष रात्रि प्रभु के नामस्मरण में व्यतीत की।

देवनंदा स्वप्न दर्शन

९. गर्भ परिवर्तन

भगवान महावीर की आत्मा का देवलोक में से देवानंदा की कुक्षी में अवतरण हुआ, उस समय सौधर्मइन्द्र अपनी सुधर्म सभा में शक्र नाम के सिंहासन पर बैठे हुए थे। अवधिज्ञान के बल से भगवान महावीर की आत्मा को देवानंदा के गर्भ में अवतरित हुए देख-वे खुश हो गए। अत्यंत ही प्रसन्नता के साथ वे अपनें सिंहासन पर से खडे हो गए। पादपीठ से नीचे उतरकर-तीर्थंकर भगवंत के सन्मुख सात-आठ कदम आगे बढे। उतरासन धारण कर बाएँ घूटने को ऊंचा तथा दाए घूटने को पृथ्वीतल पर लगाकर **'शक्र स्तव'** द्वारा प्रभु की स्तुति की।

एक दिन सिंहासन पर बैठे इन्द्र के मन में एक विचार उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे, 'तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव या वासुदेव शुद्र कुल में, अधम कुल में कभी उत्पन्न होते नहीं है। परन्तु अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल बीतने पर भवितव्यता के योग से कुछ आश्चर्यकारी घटनाएँ बन जाती है...और इसी कारण इस अवसर्पिणी काल में कुछ आश्चर्य हुए व होंगे।

भगवान महावीर की आत्मा ने तीसरे मरिची के भव में कुल मद करके जो नीच गोत्र कर्म का बंध किया था, वह कर्म अनेक भवों के बाद अभी तक क्षीण नहीं हो पाया...इसी कारण भगवान महावीर की अत्मा का देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षी में अवतरण हुआ है।...अनंतकाल बाद यह आश्चर्य बना हैं। परन्तु अभी तक तीर्थंकर आदि भिक्षाचर आदि कुल में जन्में नहीं है। अतः इस समय मेरा कर्त्तव्य हैं कि उन्हें भिक्षाचर कुल में से क्षत्रिय कुल में परिवर्तन कर दूं।'

इस प्रकार सोचकर इन्द्र ने तय किया कि देवानंदा की कुक्षी में जो गर्भ है उसे क्षत्रियकुंड नगर के क्षत्रिय सिद्धार्थ महाराजा की महारानी त्रिशला महारानी की कुक्षी में रखवा दूँ और त्रिशला महारानी की कुक्षी में जो गर्भ है, उसे देवानंदा की कुक्षी में रखवा दूँ।'

इन्द्र ने सेनापति हरिणेगमेषी देव को बुलाया और आज्ञा देते हुए कहा, देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षी में रहे गर्भ को क्षत्रियकुंड नगर की त्रिशला महारानी की कुक्षी में रख दो और त्रिशला के गर्भ को देवानंदा की कुक्षी में रख दो।'

इन्द्र महाराजा की आज्ञा होते ही हरिणेगमेषी देव ब्राह्मणकुंड नगर में देवानंदा के पास आया। उसने सर्व प्रथम श्रमण भगवान महावीर को प्रणाम किया-तत्पश्चात् उसने देवानंदा को अवस्वापिनी निद्रा प्रदान की।

फिर-'हे प्रभो ! आप मुझे अनुज्ञा प्रदान करो।' इस प्रकार कहकर गर्भस्थ प्रभु को अपनें दिव्य-प्रभाव से ग्रहण कर क्षत्रियकुंड नगर में गया और वहाँ त्रिशला महारानी को अवस्वापिनी निद्रा प्रदान कर महावीर प्रभु को त्रिशला महारानी के गर्भ में स्थापित किया। त्रिशला महारानी के गर्भ को ले जाकर देवानंदा की कुक्षी में स्थापित किया। उसके बाद हरिणेगमेषी देव पुनः देवलोक में चला गया। उसने जाकर इन्द्र को निवेदन किया कि आपकी आज्ञानुसार गर्भ का संक्रमण कर दिया है।

इस प्रकार नीच गोत्र कर्म के उदय के कारण महावीर प्रभु ८२ दिन तक देवानंदा की कुक्षी में रहे। उस कर्म के संपूर्ण क्षीण होने पर आसो वदी १३ के दिन प्रभु का त्रिशला महारानी की कुक्षी में आगमन हुआ।

जिस रात्रि में देवानंदा की कुक्षी से गर्भ का संक्रमण हुआ, उस रात्रि में देवानंदा ने वे १४ महास्वप्न त्रिशला महारानी द्वारा अपहरण कराते हुए देखे।

गर्भ परिवर्तन

१०. त्रिशला माता-स्वप्न दर्शन

आसो वदी १३ का शुभ दिन ।

क्षत्रियकुंड के अधिपति सिद्धार्थ महाराजा की महारानी त्रिशला महादेवी की कुक्षी में महावीर प्रभु के आगमन के साथ ही त्रिशला महारानी ने १४ महास्वप्न देखें ।

महावीर प्रभु की माता ने पहले स्वप्न में सिंह देखा था-फिर भी सामान्य से १४ स्वप्नों का वर्णन करते समय पहले स्वप्न में हाथी का वर्णन करते हैं ।

१. त्रिशला महारानी ने पहले स्वप्न में चार दांतवाले, गर्जना करता हुआ हाथी देखा ।
२. दूसरे स्वप्न में अत्यंत मनोहर वृषभ देखा ।
३. तीसरे स्वप्न में क्षीर सागर के समान उज्ज्वल, व मंद गतिवाले सिंह को अपनें मुंह में प्रवेश करते हुए देखा ।
४. चौथे स्वप्न में छः वलय में १,२०,५०,१२० कमलों से युक्त श्रीदेवी को देखा ।
५. पांचवें स्वप्न में कल्पवृक्षादि के ताजे पुष्पों से युक्त सुगंधी पुष्पमाला देखी ।
६. छट्ठे स्वप्न में सोलह कलाओं से युक्त चंद्र देखा ।
७. सातवें स्वप्न में मेरु की प्रदक्षिणा देने वाला सूर्य देखा ।
८. आठवें स्वप्न में सुवर्णमय दंड पर रहा ध्वज देखा ।
९. नौवें स्वप्न में पानी से भरा हुआ सोने का कलश देखा ।
१०. दसवें स्वप्न में अत्यंत रमणीय व हजारों कमलों से सुशोभित पद्मसरोवर देखा ।
११. ग्यारहवें स्वप्न में अनेक जलचर प्राणियों से युक्त क्षीर समुद्र देखा ।
१२. बारहवें स्वप्न में १००८ स्तंभों से युक्त उत्तम विमान देखा ।
१३. तेरहवें स्वप्न में पुलक, वज्र, आदि रत्नों का ढेर देखा ।
१४. चौदहवें स्वप्न में घी से सिंचित व धुएँ रहित अग्नि देखी ।

इन महास्वप्नों को देखकर त्रिशला महारानी जागृत हो गई । व्यवस्थित बैठकर पुनः उन स्वप्नों का स्मरण करने लगी...उसके बाद वह शय्या से उठकर सिद्धार्थ राजा के भवन में गई । तत्पश्चात् उनकी अनुज्ञा लेकर सिंहासन पर बैठी और उसके बाद बोली,

'हे स्वामिन् ! आज मैंने अर्द्ध जागृत अवस्था में चौदह महास्वप्न देखे हैं, उनका क्या फल होगा ?'

त्रिशला महारानी के मुख से 14 स्वप्नों का वर्णन सुनकर सिद्धार्थ महाराजा प्रसन्न हो गए । उन स्वप्नों को मन में धारण कर विचार-विमर्श कर बोले, 'हे देवानुप्रिया ! तू ने जो स्वप्न देखे हैं वे प्रशस्त हैं, कल्याणकारी व मंगलकारी है । इन स्वप्नों के फलस्वरुप नौ मास व साढे सात दिन व्यतीत होने पर अपने कुल में दीपक समान, सुकोमल, तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दोगी । वह बालक जब आठ वर्ष का होगा, तब उसे हर तरह का ज्ञान होगा-क्रमशः जब युवा बनेगा तब अत्यंत ही पराक्रमी बनेगा और विशाल साम्राज्य का स्वामी बनेगा ।'

सिद्धार्थ महाराजा के मुख से इन स्वप्नों के फलादेश को सुनकर त्रिशला महारानी प्रसन्न हो गई और कहने लगी, 'स्वामी नाथ ! आपनें जो स्वप्नों के फला देश कहे है, वे यथार्थ है ।'- उसके बाद सिंहासन से उठकर राजहंस सदृश गति से वापस अपनें शयन खंड में चली गई और देव-गुरु संबंधी प्रशस्त वार्ता विनोद द्वारा शेष रात्रि प्रसार की ।

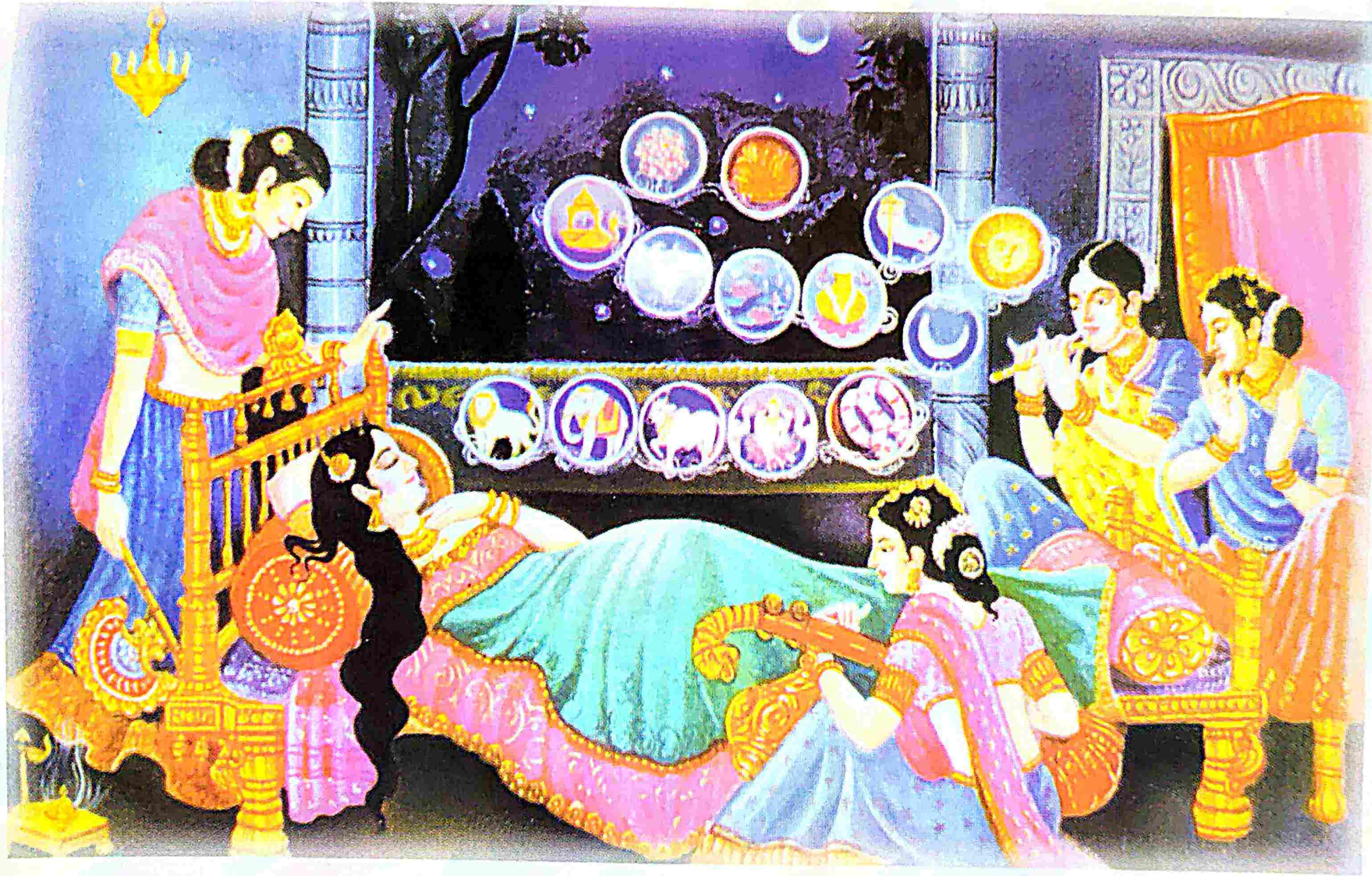

त्रिशलामाता स्वप्न दर्शन

11. त्रिशला का विषाद

त्रिशला महारानी का हर्ष प्रतिदिन बढता जा रहा था । उसकी खुशी का पार नहीं था ।...परन्तु उसकी यह खुशी एक दिन विषाद में बदल गई ।

श्रमण भगवान महावीर की आत्मा ने एक दिन सोचा, **'गर्भ में मेरी हलन-चलन से माँ को कष्ट होता है ।' माँ के प्रति भक्ति बतलाने के लिए उन्होंने अपना स्पंदन बंद कर दिया...वे निष्कंप हो गए ।**

माँ सोचने लगी, 'अहो ! मेरे गर्भ को क्या हो गया ? क्या किसी दुष्ट देव ने मेरे गर्भ का अपहरण कर लिया है ? क्या मेरा गर्भ मर गया है ? क्या मेरा गर्भ गल गया है ? ओहो ! पहले तो वह गर्भ हिलता था-अब तो वह बिल्कुल हिलता नहीं है ।'

इस प्रकार संकल्प-विकल्प के जाल में फंसी हुई त्रिशला महारानी आर्त ध्यान के वशीभूत हो गई और चिंता सागर में डूब गई । अपने मुख को हथैली पर स्थापित कर सोचने लगी, 'यदि मेरे गर्भ का किसी प्रकार से अकुशल हुआ होगा तो मैं पुण्यहीनों में अग्रणी बनूंगी ।

मेरे भाग्य को धिक्कार हो, उसने यह क्या कर डाला ? उसने मेरे मनोरथ रुपी वृक्ष को उखेड दिया ।

अथवा क्या मैंने पूर्वजन्म में शील का खंडन किया होगा, क्योंकि ऐसा कष्ट, दुष्ट कर्म के बिना संभव नहीं है ।'

शास्त्र में कहा हैं-

'जन्मांतर में किए गए शील के खंडन से रंडापन, बालविधवापन, दुर्भाग्य, वंध्यत्व प्राप्त होता है ।

चिंता के महासागर में डूबी हुई, म्लान मुखवाली त्रिशला रानी को देखकर सखियों ने शोक का कारण पूछा ।

त्रिशला ने कहा, 'मंदभागी ऐसी मैं तुम्हें क्या कहूँ ? मेरा तो सर्वस्व लूंट लिया गया है ।'

त्रिशला के मुख से इन शब्दों को सुनकर सखियों ने कहा, 'हे सखी ! तुम्हारा अमंगल शांत हो । तूं जल्दी कह, तेरा गर्भ तो कुशल है न !'

'ओहो ! मेरा गर्भ कुशल होता तो और पूछना ही क्या था ?' इतना कहकर त्रिशला रानी भूमि पर ढल पडी और मूर्च्छित हो गई ।

त्रिशला को मूर्च्छित देखकर सखियों ने शीतल जल का छंटकाव किया । होश में आने पर करुण विलाप करती हुई वह बोली, 'अब तो मेरे लिए मरण ही शरण हो, क्योंकि अब जीने का कोई अर्थ नहीं है ।'

त्रिशला के इस करुण विलाप को सुनकर सारा परिवार विलाप करने लगा,

`हाय ! यह अचानक कैसी आपत्ति आ गई ?

इस प्रकार अचानक आ पडी आपत्ति को देखकर सभी कुल वृद्धाएँ चिंतातुर हो गई और शांति-तुष्टि-पुष्टि कर्म करने लगी ।

इस दु:खद समाचार को सुनकर राजा भी चिंतातुर हो गया ।

सिद्धार्थ राजा का राजभवन शोक सागर में डूब गया । वाद्य-यंत्र आदि सब बंद हो गए ।

अपनें अवधिज्ञान के बल से माता-पिता व परिवारजनों की इस विचित्र स्थिति को देखकर गर्भ में रहे महावीर प्रभु सोचने लगे, **'अहो ! क्या करे ? मोह की गति बडी विचित्र है ।'**

मैंने तो माता के सुख के लिए कार्य किया था, परंतु वहीं माता के खेद के लिए हो गया ।

अवधि ज्ञान से माता की इस मनोदशा को जानकर तुरंत ही गर्भ में रहे प्रभु ने अपनें शरीर का स्पंदन किया ।

बस, गर्भ के स्पंदन का अनुभव होते ही त्रिशला महारानी पुन: खुश हो गई और सखी आदि परिवारजनों को कहने लगी, `अहो ! मेरा गर्भ सुरक्षित है । मेरे गर्भ को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं है ।'

मधुर वाणी से त्रिशला कहने लगी, `ओहो ! धिक्कार हो मुझे । मोह में अंध बनकर मैंने अनुचित विकल्प कर दिए ।

त्रिशला महारानी को प्रसन्न जानकर पुन: राजमहल में चारों ओर आनंद छा गया ।

गर्भ में रहे प्रभु के ६.५ महिनें व्यतीत हो चूके थे, उस समय गर्भ में रहे प्रभु ने सोचा, `अहो ! अभी तो मेरा जन्म भी नहीं हुआ है और मेरी माता को इतना अधिक स्नेह हैं तो जन्म के बाद तो वह स्नेह कैसा होगा ? `पुत्र को माता के प्रति इस प्रकार का बहुमान भाव रखना चाहिये', यह बतलाने के लिए प्रभु ने अभिग्रह किया कि जब तक मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे, तब तक मैं दीक्षा अंगीकार नहीं करुंगा ।'

१२. पुत्र जन्म

गर्भ के प्रभाव से त्रिशला महारानी को उत्तम दोहद उत्पन्न हुए ।

- 'मैं चारो दिशाओं में अमारि-पटह बजावाऊं । दान दूँ । सद्गुरुओं का सत्कार करुं । तीर्थंकरों की पूजा करुं । साधर्मिक वात्सल्य करुं ।
- मैं सिंहासन पर बैठूं, मेरे मस्तक पर छत्र रहे, मेरे दोनों ओर चामर वींजे जाय ।'
- मैं हाथी पर बैठूं । चारों ओर ध्वजा-पताकाएँ लगी हो...वाद्य यंत्रों से वातावरण गुंज रहा हो और लोग हर्ष से जयजयकार कर रहे हो-वैसी उद्यानक्रीडा करुं ।'

सिद्धार्थ महाराजा त्रिशला महारानी के सभी दोहद पूर्ण किए । इस प्रकार गर्भ को वहन करते हुए ९ मास व साढे सात दिन व्यतीत हुए । **एक शुभ दिन, जब सभी ग्रह उच्च स्थान में थे, सभी दिशाएँ रजोवृष्टि आदि से रहित थी, दक्षिण दिशा का सुगंधी, शीतल व अनुकूल पवन बह रहा था, तब उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र के साथ चंद्रमा का योग होने पर चैत्र सुदी तेरस की रात्रि में त्रिशला महारानी ने तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म दिया ।**

मध्यरात्रि में त्रिशला महारानी ने महावीर प्रभु को जन्म दिया, उसके साथ ही संपूर्ण जगत् में चारों ओर प्रकाश-प्रकाश फैल गया । नरक के जीवों को भी क्षण भर के लिए शाता उत्पन्न हुई ।

प्रभु के जन्म के साथ ही ५६ दिक् कुमारिकाओं के आसन कंपित हुए और वे तत्काल ही अपना आचार समझकर प्रभु के पास आई ।

- अधोलोकवासिनी आठ कुमारिकाएँ आकर माता सहित जिनेश्वर को प्रणाम कर ईशान कोण में सुतिगृह बनाती है और संवर्त्तक वायु द्वारा योजन प्रमाण भूमि को साफ करती है ।
- ऊर्ध्वलोकवासिनी आठ कुमारिकाएँ आकर सुगंधी जल व पुष्प की वृष्टि करती है ।
- पूर्वरुचक द्वीप से आठ कुमारिकाएँ हाथ में दर्पण धारण करती है ।
- दक्षिण रुचक द्वारा से आठ कुमारिकाएँ आकर स्नान के लिए जल से भरे कलशों को हाथ में लेकर गीतगान करती है ।
- पश्चिम रुचक द्वीप से आठ कुमारिकाएँ हाथ में पंखा लेकर खडी रहती है ।
- उत्तर रुचक द्वीप से आठ कुमारिकाएँ आकर हाथ में चामर वीजती है ।
- रुचक पर्वत की विदिशा से चार कुमारिकाएँ प्रभु के आगे दीप धारण करती है ।
- रुचक द्वीपवासिनी चार कुमारिकाएँ आकर प्रभु के चार अंगुल से नाल का छेदकर खड्डे में डालती है और उसे वैडूर्य रत्नों से भरकर उसके ऊपर पीठिका बनाती है । उसके बाद दक्षिण दिशा के कदलीगृह में पुत्र सहित माता को बिठाकर सुगंधी तेल से मालिश करती हैं । पूर्व दिशा के कदलगृह में ले जाकर दोनों को स्नान कराकर विलेपन कर सुंदर वस्त्र अलंकार पहिनाती हैं ।
- उसके बाद उत्तरकदली गृह में अरणि-काष्ठ से अग्नि उत्पन्न कर अग्नि में चंदन जलाकर उसकी राख से चार दिक् कुमारिकाएँ प्रभु व प्रभु की माता के हाथ में रक्षापोटली बांधती है और **'पर्वतायुर्भव'** कहकर प्रभु व प्रभु की माता को उनके जन्मस्थान में रखकर अपनें अपनें स्थान में चली जाती है ।

५६ दिक्कुमारिका महोत्सव

१३. जन्माभिषेक

परमात्मा का जन्म होने के साथ ही सौधर्म इन्द्र का सिंहासन कंपित हुआ । अपनें अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा चरम तीर्थपति के जन्म को जानकर इन्द्र महाराजा ने हरिणैगमेषी देव को सुघोषा घंटा बजाने का आदेश दिया ।

हरिणैगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा स्वीकार कर सुघोषा घंट बजाया । उस घंट के बजने के साथ बत्तीस लाख विमान में रहे हुए घंट स्वतः बज उठे ।

जिसे सुनकर सभी देव मेरुपर्वत की ओर प्रयाण करने लगे ।

इन्द्र महाराजा भी पालक विमान में अपनें विशाल परिवार के साथ बैठकर नंदीश्वर द्वीप पर गए वहाँ अपनें विमान को संक्षिप्त कर इन्द्र स्वयं प्रभु की माता के पास आए । प्रभु और प्रभु की माता को तीन प्रदक्षिणा देकर इन्द्र ने कहा, 'हे रत्नकुक्षिधारिका ! मैं अपनें कल्पानुसार अंतिम जिनेश्वर का जन्म-महोत्सव करने के लिए आया हूँ, अतः आप भयभीत न हो'-इतना कहकर इन्द्रने प्रभु की माता को अवस्वापिनी निद्रा प्रदान की और माता के पास प्रभु का प्रतिबिंब स्थापित कर स्वयं पांच रुप कर प्रभु को मेरु पर्वत पर ले गए ।

इन्द्र की आज्ञा से अभियोगिक देव ने १ करोड ६० लाख कलश तैयार किए । उनमें क्षीर सागर, मागध आदि तीर्थ व गंगा आदि नदियों का जल मंगाया । उसके बाद देवताओं द्वारा प्रभुजी का अभिषेक प्रारंभ हुआ ।

अत्यंत ही लघुकाय वाले परमात्मा पर होने वाले करोडों देवताओं के जलाभिषेक को देखकर इन्द्र के मन में शंका उत्पन्न हुई **'प्रभुजी का देह इतना छोटा है । वे इस जल प्रवाह को कैसे सहन कर पाएंगें ?'**

प्रभु ने अपने अवधि-ज्ञान के बल से इन्द्र के मन में रही शंका को जान लिया ।

तुरंत ही इन्द्र की शंका के निवारण के लिए प्रभु ने अपनें दाए पैर के अंगुठे का मेरु पर्वत को स्पर्श कराया । प्रभु के अंगुठे के स्पर्श के साथ ही वह मेरु पर्वत कांपने लगा । पर्वत के शिखर टूटने लगे और ब्रह्माण्ड का विस्फोट हो, ऐसी आवाज होने लगी ।

प्रभु के जन्माभिषेक के महामंगलकारी प्रसंग में इस भयंकर विस्फोट की आवाज सुनकर इन्द्र ने सोचा, 'इस महामंगलकारी प्रसंग में यह विघ्न किसने खडा किया है ?'

इन्द्र ने अवधिज्ञान के बल से देखा 'यह तो प्रभु ने मेरी शंका के निवारण के लिए अपने अंगुठे का मेरु पर्वत को स्पर्श किया है ।' -यह जानकर इन्द्र ने प्रभु से क्षमायाचना की ।

'अहो ! प्रभु तो अनंतबली हैं, अल्पज्ञ ऐसा मैं, अचिंत्य शक्तिशाली ऐसे परमात्मा की शक्ति को पहिचान नहीं पाया । प्रभु की काया भले ही छोटी है, परन्तु प्रभु तो अनंत शक्ति के भंडार है ।'

सभी इन्द्रों व देवताओं ने प्रभु का जन्माभिषेक किया ।

अंत में ईशानेन्द्र ने प्रभु को अपनी गोद में लिया और सौधर्म इन्द्र ने वृषभ का रुप कर अपनें शृंगों में जल भरकर प्रभु का अभिषेक किया ।

अभिषेक के बाद उत्तम वस्त्रों से प्रभु के देह को पोंछकर कीमती वस्त्र व अलंकारों से प्रभु को अलंकृत किया । उसके बाद देवों ने प्रभु के सामने नाच गान किया । आरती व मंगल दीप किया ।

देवकृत प्रभु के जन्माभिषेक की समाप्ति के बाद इन्द्र महाराजा प्रभु को लेकर पुनः माता के पास आए ।

उस समय इन्द्र ने ३२ करोड स्वर्ण-रत्न की वृष्टि की और अभियोगिक देवों ने घोषणा की, 'जो कोई प्रभु या प्रभु की माता का अशुभ करेगा उसका शिरोच्छेद कर दिया जाएगा । तत्पश्चात् प्रभु के अंगुठें में अमृत का सिंचन कर इन्द्र आदि देव नंदीश्वर द्वीप पर गए और प्रभु के जन्म कल्याणक निमित्त अष्टाह्निक-महोत्सव किया ।

★ प्रातःकाल होने पर प्रियंवदा दासी ने जाकर सिद्धार्थ महाराजा को पुत्र-जन्म की बधाई दी...समाचार सुनते ही सिद्धार्थ राजा का हृदय प्रसन्नता से भर आया । खुश होकर राजा ने अपनें राज-चिन्ह रुप मुकुट को छोडकर अपने शरीर पर रहे सभी अलंकार दासी को भेंटकर जीवन भर के लिए उसका दारिद्र्य दूर कर दिया ।

● पुत्र जन्म की बधाई की खुशहाली में सिद्धार्थ राजा ने अपनें आरक्षक पुरुषों को बुलाकर सभी कैदियों को बंधनमुक्त करने के लिए आदेश दिया ।

उसके बाद संपूर्ण नगर में पुत्र जन्म निमित्त भव्यातिभव्य महोत्सव किया । वह महोत्सव ग्यारह दिन तक चलता रहा । नगर की सारी प्रजा आनंद-कल्लोल करने लगी ।

बारहवें दिन सिद्धार्थ महाराजा ने अपनें विशाल परिवार, स्वजन-कुटुंबीजनों को इकट्ठा कर बालक के गुण के अनुरुप **'वर्धमान'** नाम रखा ।

भगवान महावीर परिवार

प्रथम साधु	इन्द्रभूति
प्रथम साध्वी	चंदनबाला
प्रथम श्रावक	शंख
प्रथम श्राविका	सुलसा
शासन यक्ष	मातंग
शासन यक्षिणी	सिद्धायिका

जन्माभिषेक

१४. सत्त्व-परीक्षा

एक बार वर्धमान कुमार अपनें मित्रों के साथ नगर के बाहर उद्यान में खेल रहे थे तभी सौधर्म देवलोक में रहे, सौधर्म इन्द्र ने प्रभु के धैर्यगुण की प्रशंसा करते हुए कहा, `हे **देवों ! मनुष्यलोक में वर्तमान समय में वर्धमानकुमार बालक होते हुए भी उनका पराक्रम अद्‌भुत है । देव भी उन्हें डरा नहीं सकते हैं ।'**

इन्द्र के मुख से वर्धमानकुमार के पराक्रम की बात सुनकर एक मिथ्यादृष्टि देव ने विचार किया, `अहो ! अपनी सत्ता के अभिमान के कारण इन्द्र अपनी मनचाही बातें कर रहे हैं । क्या एक मनुष्य में कभी इतनी ताकत हो सकती है ? वह तो एक बालक है, उसकी क्या ताकत है ? अभी मैं जाता हूँ और उसे डरा-धमकाकर इन्द्र के वचन को मिथ्या सिद्ध कर देता हूँ ।'

बस ! इस प्रकार विचार कर वह देव चंद क्षणों में ही धरती पर आ गया...भयंकर सर्प का रुप कर लिया ।...वह सर्प उद्यान में आकर जोरों से फूत्कार करने लगा ।

वह सर्प उस वृक्ष के चारों ओर विंटलाने लगा, जिस वृक्ष के चारों ओर वर्धमान-कुमार आदि खेल रहे थे ।...फुत्कार कर रहे सर्प को देखकर सभी बच्चे भयभीत होकर भागने लगे । परन्तु उस भयंकर सर्प को देखकर वर्धमानकुमार डरा नहीं । उसने उस सर्प को पकड लिया और जोर से पकडकर उसे दूर फेंक दिया ।

वर्धमानकुमार ने भागते हुए अपनें मित्रों को वापस बुलाया और उन्हें कहा, `तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं हैं, मैंने उस सर्प को दूर भगा दिया है ।'

वे बच्चे वापस वहाँ आकर क्रीडा करने लगे । सर्प के रुप में परास्त हुए उस मिथ्यादृष्टि देव ने पुनः अपना रुप परिवर्तन किया । इस बार उसने कुमार का रुप कर वर्धमानकुमार आदि के साथ क्रीडा करने लगा ।

उस क्रीडा में शर्त थी **'जो हारेगा वह जीतने वाले को अपनें कंधे पर उठा-एगा ।'** इस खेल में वह देव जानबुझकर वर्धमानकुमार से हार गया ।

खेल की शर्त के अनुसार उस कुमार देव ने वर्धमानकुमार को अपनें कंधो पर उठाया...और देखते ही देखते उस देव ने ताड की भांति अपनी ऊंचाई बढाई और एक राक्षस की भांति अपना भयंकर रुप किया ।

अपनें ज्ञान से देव के इस स्वरुप को जानकर वर्धमानकुमार ने उसकी पीठ पर वज्र के समान अत्यंत ही कठोर मुष्टि का प्रहार किया । उस प्रहार की तीव्र वेदना से पीडित वह देव एक मच्छर की तरह संकुचित हो गया ।

उस मिथ्यादृष्टि देव को इन्द्र के वचन में सत्यता की प्रतीति हुई...हारकर उसने अपना मूल स्वरुप प्रगट किया और प्रभु के पास क्षमा मांगकर देवलोक में चला गया । इससे संतुष्ट होकर इन्द्र ने प्रभु का नाम **'श्री वीर'** रखा ।

सत्वपरीक्षा

देव का पराजय

१५. पाठशाला-गमन

वर्धमानकुमार जब आठ वर्ष के हुए, तब उनके माता-पिता उनको विद्या अध्ययन कराने के लिए पंडित के पास ले जाने की तैयारी करने लगे ।

वर्धमानकुमार को सुंदर वस्त्र व आभूषणों से अलंकृत किया गया । अध्यापन कराने वाले पंडित के बहुमान के लिए स्वर्णादि के अलंकार व सहाध्यायी बालकों को भेंट देने के लिए विविध प्रकार की खाद्य-सामग्री, मीठाई एवं लेखन सामग्री तैयार की गई ।

उसके बाद वाद्य-यंत्रों की मधुर ध्वनि के साथ, विशाल परिवार के साथ प्रभु को पाठशाला में ले गए । सौधर्म इन्द्र ने अपनें ज्ञान के उपयोग द्वारा परिवारजनों की ओर से महाज्ञानी प्रभु को पाठशाला ले जाने की चेष्टा देखी और वे सोचने लगे,

'अहो ! प्रभु तो महाज्ञानी है, उन्हें पाठशाला ले जाने की यह कैसी विचित्र चेष्टा हो रही हैं ? प्रभु तो बिना अध्ययन भी परमज्ञानी है ।' इस प्रकार विचार कर वह इन्द्र तत्काल ब्राह्मण का रुप करके उस पंडित के घर आया और पंडित के योग्य आसन पर प्रभु को बिराजमान कर, पंडित के मन में रहे हुए संदेह प्रभु को पुछने लगा । प्रभु ने उस सभी प्रश्नों के सही जवाब दिए । जिन्हें सुनकर पंडित और सभी लोग आश्चर्यचकित हो गए ।

पंडित ने सोचा, `अहो ! बाल्यकाल से ही मेरे मन में रहे जिन संदेहों को आज तक कोइ दूर नहीं कर सका, उन सबका समाधान इस बालक ने कर दिया ! अहो ! यह बालक विद्या-विशारद होते हुए भी इसकी गंभीरता कितनी है ?

पंडित को इस प्रकार सोचते हुए देखकर इन्द्र ने कहा, **'विप्रवर ! ये कोई सामान्य बालक नहीं हैं, ये तो तीन लोक के नायक समस्त शास्त्रों में पारगामी श्रीवीर प्रभु है ।'**

इस प्रकार वीर प्रभु की स्तुति कर इन्द्र अपनें स्थान में चला गया ।

प्रभु भी अपनें परिवारजनों के साथ घर लौट आए ।

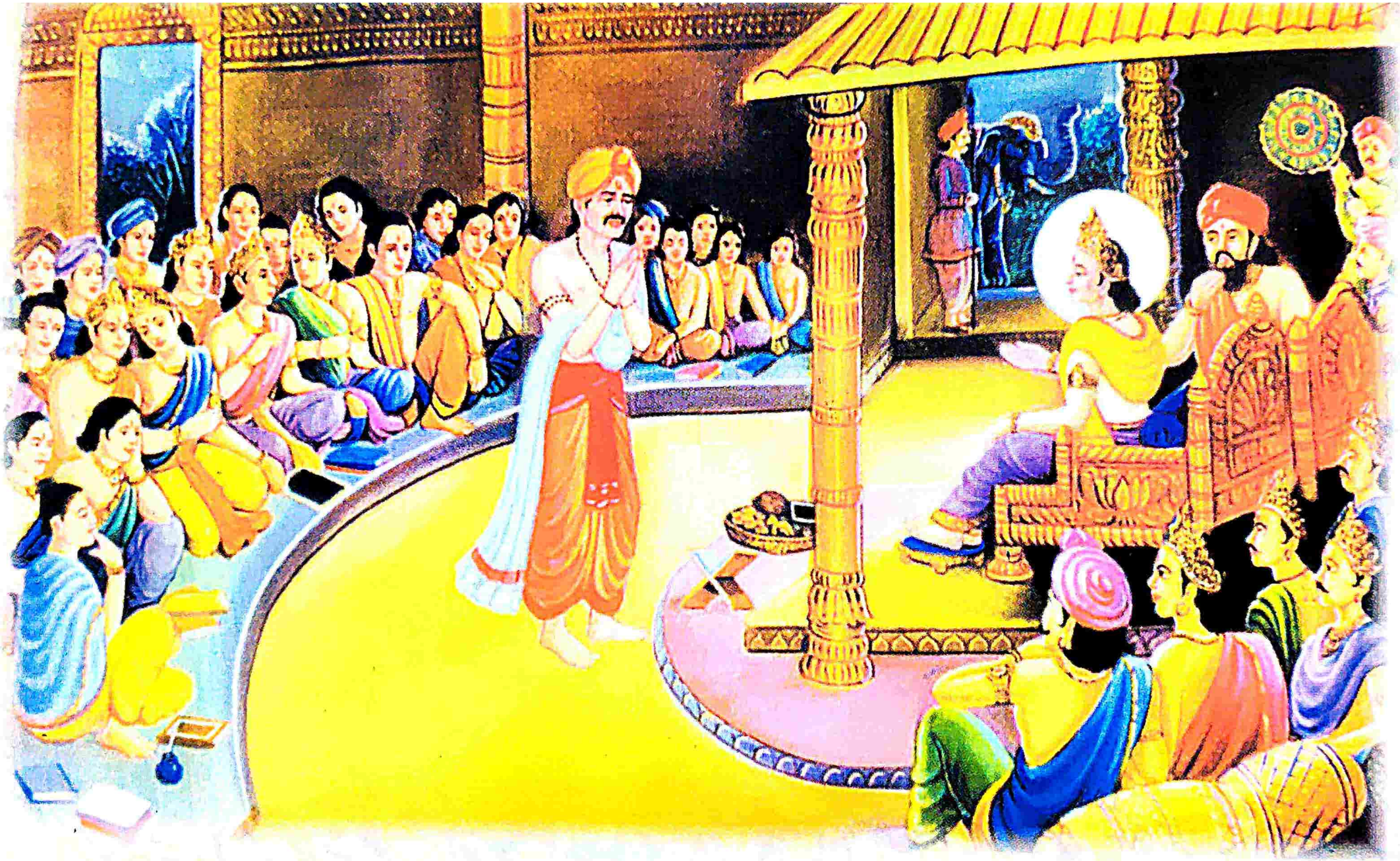

पाठशाला गमन

१६. लग्न-जीवन

भगवान महावीर प्रभु बाल्यकाल से ही विरक्त थे । ज्योंहि उन्होंने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया, त्रिशला माता बारबार वर्धमानकुमार को लग्न जीवन के स्वीकार के लिए आग्रह करने लगी । यद्यपि वर्धमान अनासक्त योगी थे, उन्हें भोग सुखों का लेश भी आकर्षण नहीं था, फिर भी अपनें भोगावली कर्मों के क्षय के लिए ही उन्होंने **समरवीर** राजा की पुत्री **यशोदा** के साथ पाणिग्रहण स्वीकार किया ।

समय व्यतीत होने पर यशोदा ने एक पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम **प्रियदर्शना** रखा गया । प्रियदर्शना का विवाह राजपुत्र **जमालि** के साथ हुआ, उनके भी एक पुत्री पैदा हुई जिसका नाम **शेषवती** रखा गया ।

१७. नंदिवर्धन से प्रार्थना

बाल्यकाल से ही अनासक्त प्रभु महावीर को संसार के भौतिक भोग-सुख लेश भी ललचा नहीं सके । देखते ही देखते वर्धमानकुमार २८ वर्ष के हो गए ।...एक दिन सिद्धार्थ महाराजा व त्रिशलादेवी ने प्रत्याख्यान पूर्वक संलेखना कर अपनें नश्वर देह का त्याग किया ।

गर्भ काल में वर्धमानकुमार ने जिस प्रतिज्ञा का स्वीकार किया था, उनकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई ।

अपनें माता-पिता के स्वर्गवास से नंदिवर्धन शोक सागर में डूब गए ।

वर्धमान प्रभु ने नंदिवर्धन को संसार की अनित्यता और आयुष्य की क्षण भंगुरता समझाकर उसका शोक दूर दिया ।

कुछ समय बाद अपनें स्वजन-कुटुम्बीजनों को इकट्ठा करके वर्धमानकुमार ने नंदिवर्धन को कहा, 'बंधुवर्य ! पूर्व में स्वीकार की गई मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चूकी हैं, अतः संयम स्वीकार करने के लिए आप मुझे अनुमति प्रदान करो ।'

वर्धमानकुमार के मुख से दीक्षा की बात सुनकर नंदिवर्धन ने कहा, 'बंधुवर्य ! एक ओर माता-पिता का वियोग मेरे हृदय के टूकडे-टूकडे कर रहा है, ऐसी परिस्थिति में तुम्हारें वियोग की पीडा कैसे सहन कर पाऊंगा ? तुम्हारा वियोग मेरे लिए घाव पर नमक छिडकने के समान होगा, अतः अभी दीक्षा लेने का विचार छोड दो ! मुझ पर कृपा कर दो वर्ष तक तुम घर में ही रहो ।'

नंदिवर्धन की इस विचित्र स्थिति को देखकर वर्धमानकुमार ने और दो वर्ष तक घर में रहना स्वीकार किया । इसके साथ ही अभिग्रह किया, **'आज से मैं सभी सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करता हूँ । आज से मैं प्रासूक भोजन ग्रहण करुंगा । शरीर पर विलेपन आदि के त्यागपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करुंगा ।'** इस प्रकार की प्रतिज्ञा के पालनपूर्वक प्रभु ने एक वर्ष पूरा किया ।

नंदिवर्धन से प्रार्थना

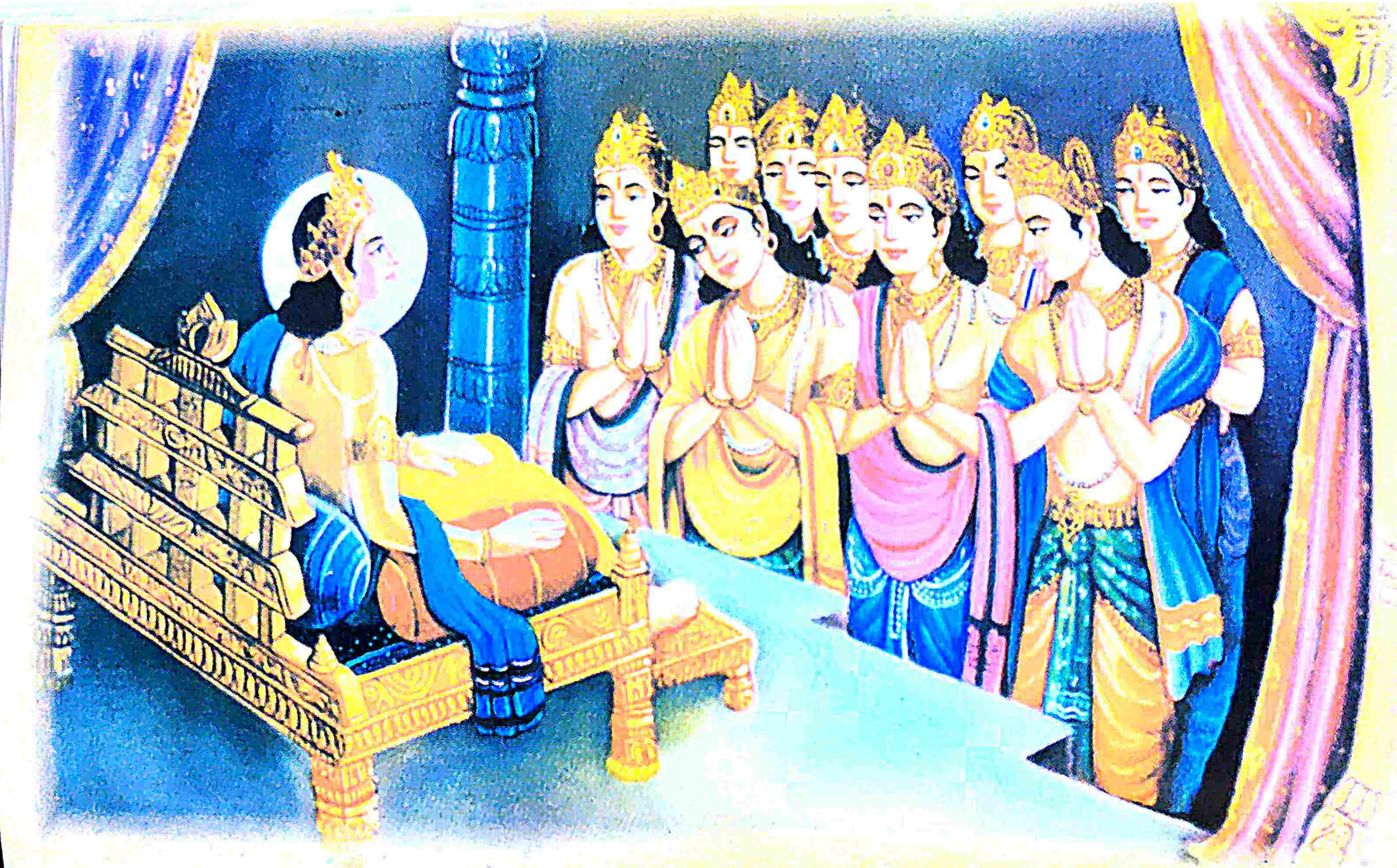

नव लोकांतिक देवोंकी प्रार्थना

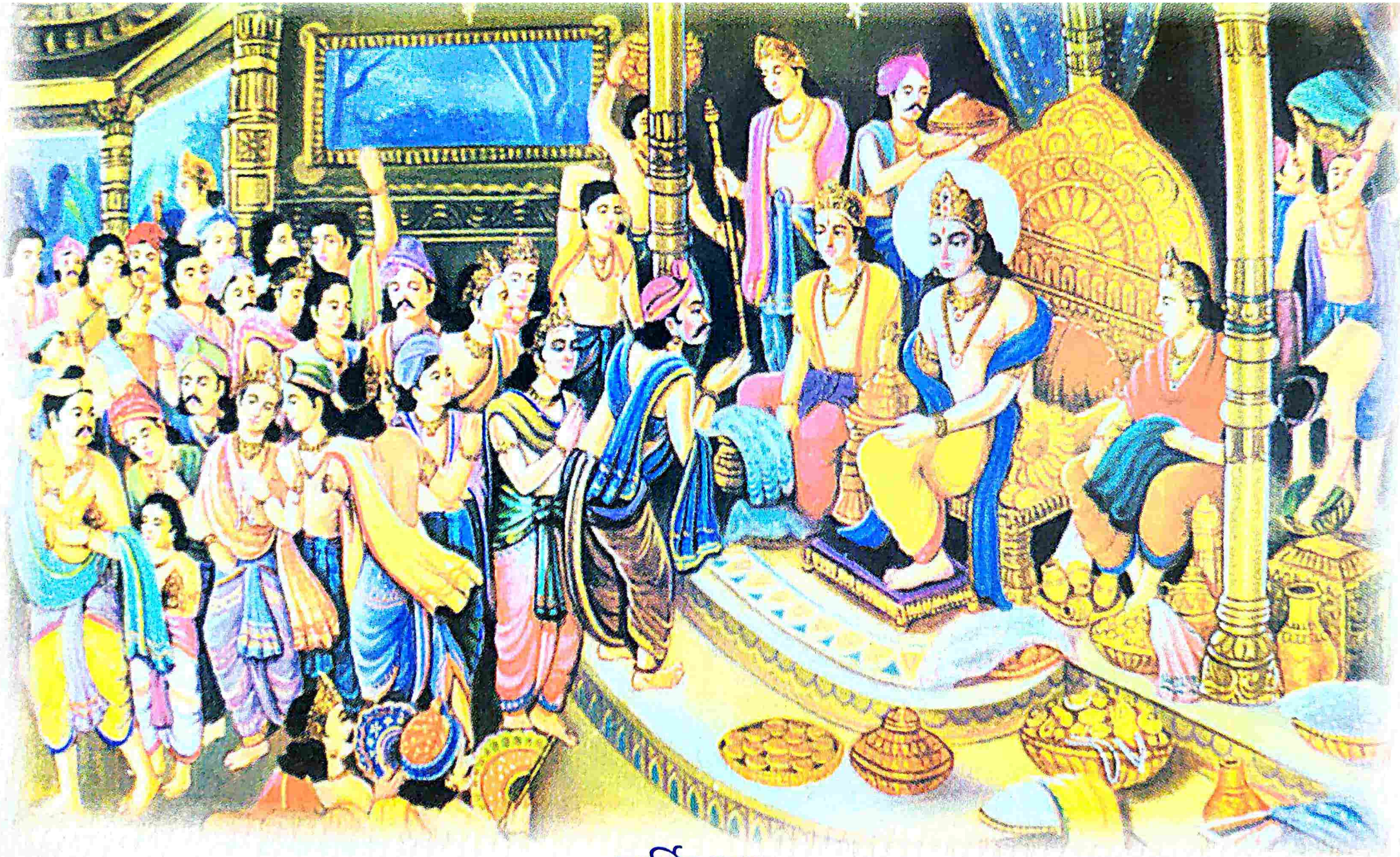

वार्षिकदान

१८. लोकांतिक देवों की प्रार्थना एवं वार्षिकदान

इसके साथ ही नौ लोकांतिक देवताओं ने आकर प्रभु को विनंती की, **'हे प्रभो ! जगत् के जीवों के हित के लिए आप धर्मतीर्थ की स्थापना करो ।'**

प्रभु ने उनकी विनंति स्वीकार कर वार्षिक दान प्रारंभ किया । उन्होंने प्रतिदिन सूर्योदय से मध्याह्न तक १ करोड और आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान दिया ।

'जिसको जो चाहिये, वह ले जाये' इस प्रकार की घोषणापूर्वक वर्धमान कुमार ने दान दिया ।'

एक वर्ष तक निरंतर दान देकर वर्धमान प्रभु ने जगत् का द्रव्य-दारिद्र्य दूर किया । एक वर्ष में प्रभु ने कुल ३८८ करोड ८० लाख सुवर्णमुद्राओं का दान दिया ।

१९. दीक्षा-स्वीकार एवं विहार

वर्धमान ने पुनः नंदिवर्धन राजा के पास दीक्षा के लिए अनुमति मांगी । नंदिवर्धन ने सहर्ष अनुमति देते हुए दीक्षा के भव्य समारोह के लिए अपनी तैयारी प्रारम्भ कर दी । नगर के सभी राजमार्गों पर ध्वजा-तोरण व पताकाएँ लगाई गई । नगर को नई दुल्हन की भांति सजाया गया ।

इसके बाद सभी इन्द्रों ने देवताओं द्वारा लाए गए क्षीरसागर के जल से प्रभु का अभिषेक किया । स्नान के बाद उज्ज्वल वस्त्र से प्रभु के देह को पोंछकर विलेपन किया । सुंदर वस्त्र व अलंकारों से विभूषित प्रभु अत्यंत ही सुंदर दिखाई देने लगे । तत्पश्चात् प्रभु देवताओं द्वारा निर्मित **'चंद्रप्रभा'** नाम की शिबिका में आरुढ हुए । प्रभु की दाहिनी ओर कुलमहत्तरा बैठी और प्रभु की बाई ओर प्रभु की अंबधात्री बैठी ।

तत्पश्चात् इन्द्र, देवता व अनेक श्रेष्ठी पुरुषों ने प्रभु की उस शिबिका को उठाया और क्रमशः क्षत्रियकुंड नगर के राजमार्गों पर आगे बढने लगे ।

प्रभु के इस महाभिनिष्क्रमण के मंगल अवसर पर सबसे आगे रत्नमय अष्टमंगल चल रहे थे । उसके बाद पूर्ण कलश, दिव्य दर्पण व ध्वजा चल रही थी । उसके बाद छत्र, मणि व सुवर्णमय पादपीठ सहित सिंहासन चल रहा था । उसके बाद १०८ जातिवंत घोडे चल रहे थे । फिर १०८ हाथी चल रहे थे । उसके बाद श्रेष्ठ घोडों से युक्त १०८ रथ चल रहे थे । फिर विविध शस्त्रों से युक्त १०८ सुभट चल रहे थे । उसके बाद गज सैन्य, रथ सैन्य व पदाति सैन्य चल रहा था । उसके बाद १ हजार योजन ऊंचा महेन्द्र ध्वज चल रहा था । उसके बाद हजारों नृत्यकार-गायक वृंद आदि चल रहे थे ।

नगर के हजारों नर-नारी प्रभु के पुनः पुनः दर्शन कर अपनें आपको धन्य मान रहे थे ।

क्रमशः आगे बढते हुए महावीर प्रभु **ज्ञातखंड** नाम के उपवन में पधारें । **अशोक वृक्ष** के नीचे शिबिका रखी गई । उस शिबिका में से प्रभु बाहर आए । तत्पश्चात् प्रभु अपनें हाथों से वस्त्र-अलंकार उतारने लगे ।

कुलमहत्तरा हंसलक्षण रेशमी वस्त्र में उन आभूषणों को ग्रहण करती हुई अत्यंत

ही करुण स्वर से आंख में आंसु लाती हुई बोली,

'हे वत्स ! असिधारा समान महाव्रतों का बराबर पालन करना । घोर उपसर्गों से लेश भी भयभीत मत होना ।'

कुलमहत्तरा की आँखों में सावन भादो बरसने लगे । उस समय नंदिवर्धन आदि सभी की आँखें अश्रुभिनी हो गई ।

प्रभु ने पंचमुष्टि लोंच किया । इन्द्र ने वे केश अपनें वस्त्र के अंचल में ग्रहण किए और उन्हें क्षीर समुद्र में डाल दिए ।

प्रभु के केश-लोच के साथ ही चारों ओर वातावरण में स्तब्धता छा गई । सभी वाद्य-यंत्र बंद हो गए और **मागसर वदी दसमी के शुभ दिन अंतिम प्रहर में स्वयं संबुद्ध ऐसे प्रभु ने सिद्धों को नमस्कार कर सावद्ययोग के त्याग की प्रतिज्ञा का स्वीकार कर चारित्र धर्म स्वीकार किया ।**

उस समय इन्द्र महाराजा ने प्रभु के बाएं स्कंध पर **देवदूष्य** रखा और उसी समय प्रभु को चोथा **मनःपर्यवज्ञान** उत्पन्न हुआ ।

प्रभु वीर ने अकेले ही दीक्षा स्वीकार की थी ।

अंतरंग शत्रुओं को परास्त करने के लिए प्रभु एक शूरवीर की भांति पराक्रमी योद्धा बन गए ।

भागवती-दीक्षा स्वीकार बाद अपनें बंधुवर्ग की अनुमति लेकर वीर प्रभु अकेले ही जंगल की ओर चल पडे !

जब तक प्रभु दृष्टि गोचर रहे, तब तक नंदिवर्धन, प्रभु की ओर अपनी दृष्टि स्थिर कर खडे ही रहा...परन्तु जैसे ही प्रभु आंखों से ओझल हो गए...नंदिवर्धन फूट फूटकर रोने लगा और करुण विलाप करते हुए कहने लगा, **'हे वीर ! तेरे बिना यह महल मेरे लिए श्मशान तुल्य बन चूका है । मैं किसके साथ वार्ता-विनोद करुंगा ? किसके साथ भोजन करुंगा ?**

हर कार्य में मैं 'वीर ! वीर !' कहकर तुझे बुलाता था और तूं मेरे हर कार्य में हाथ बंटाता था...परन्तु अब तो मैं निराधार बन गया हूँ ।

हे बंधुवर्य ! आंखों में अमृत के अंजन समान तेरा दर्शन कब होगा ? यद्यपि तेरे दिल में हमारे प्रति राग भाव नहीं है फिर भी करुणा करके हमें कभी याद करना ।'

करुण विलाप करता हुआ नंदिवर्धन अपने कुटुंबीजनों के साथ अपनें महल में लौटा ।

दीक्षा के पूर्व प्रभु के देह पर चंदन आदि अनेक सुगंधी पदार्थों का विलेपन किया हुआ था, इस कारण भ्रमर आदि आकर प्रभु के शरीर पर डंख देने लगे ।

यद्यपि सभी ने भक्ति से ही प्रभु के शरीर पर विलेपन किया था, परन्तु उसी विलेपन के कारण प्रभु को कष्ट पड रहा था...परन्तु वीर प्रभु तो उन कष्टों को अत्यंत ही समता पूर्वक सहन कर रहे थे ।

कई युवक प्रभु से गंधपुटी की याचना करते थे प्रभु के मौन रहने पर प्रतिकूल उपसर्ग भी करते थे ।

दीक्षा का भव्य वरघोडा

पंचमुष्टि लोच

२०. उपसर्ग एवं इन्द्र-प्रार्थना

दीक्षा अंगीकार करने के बाद पहले दिन, एक मुहुर्त दिन शेष रहने पर वीर प्रभु **कुमारग्राम** के बाहर आकर कायोत्सर्ग ध्यान में खडे हो गए ।

उसी समय एक ग्वाला दिन भर खेत में हल चलाकर अपनें बैलों को लेकर वहाँ आया और प्रभु से बोला, `मैं थोडी देर में गायों को दोहकर वापस आता हूँ, तुम इन बैलों का ध्यान रखना ।' इतना कहकर वह ग्वाला चला गया । इधर वे बैल चरते हुए जंगल की ओर आगे बढे ।

गाय दोहकर वह ग्वाला प्रभु के पास आया और बोला, `मेरे बैल कहाँ है ?'

कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर बनें प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया । प्रभु मौन खडे रहे ।

प्रभु को मौन देखकर वह ग्वाला बैलों की शोध के लिए जंगल में गया । रात भर वह उन बैलों की शोध करता रहा और इधर कुछ रात शेष रहने पर वे बैल स्वयं प्रभु के पास आकर बैठ गए ।

ग्वाले ने जैसे ही उन बैलों को प्रभु के पास देखा, उसे गुस्सा आ गया । **'इसने मुझे व्यर्थ ही सारे जंगल में भटका दिया'**-इस प्रकार विचार कर आवेश में आकर प्रभु को मारने के लिए चमडे की डोरी घुमायी...। अपनें अवधिज्ञान के बल से प्रभु के ऊपर आए हुए उपसर्ग को जानकर सौधर्म इन्द्र वहाँ आ गया औ उसने ग्वाले को कठोर शिक्षा देकर उस उपसर्ग का निवारण किया ।

भक्तिसभर हृदय से इन्द्र ने कहा, `प्रभो ! श्रमण धर्म का पालन करते हुए आपके ऊपर अत्यंत भयंकर उपसर्ग होनेवाले हैं, अतः उन उपसर्गों के निवारण के लिए मैं आपकी सेवा में रहना चाहता हूँ, आप मुझे अनुज्ञा प्रदान करें ।'

इंद्र की इस प्रार्थना सुनकर प्रभु ने कहा, `इन्द्र ! तेरी असाधारण भक्ति के कारण तूं इस प्रकार की बात करें वह उचित हैं किंतु आज तक भूतकाल में ऐसा हुआ नहीं हैं, कि किसी तीर्थंकर ने अन्य की मदद से अपनें कर्म क्षय किए हो । जिस आत्मा ने आसक्तिपूर्वक अशुभ कर्मों का बंध किया हो तो उन कर्मों का विपाक उसी को सहन करना पडता है । आज तक जो सिद्ध हुए हैं, वे अपनें बल से ही कर्मों का क्षय करके सिद्ध हुए है । इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है ।

मैंने पूर्व भव में हंसते हंसते कर्म बांधे है तो उन कर्मों के घोर विपाक मुझे हंसते हंसते ही सहन करना है ।' -इतना कहकर प्रभु पुनः कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर हो गए ।

प्रभु की मासी का पुत्र बाल-तप के प्रभाव से मरकर सिद्धार्थ व्यंतर बना था, वह वहाँ आ गया ।

इंद्र ने उस सिद्धार्थ व्यंतर को आज्ञा करते हुए कहा, `हे सिद्धार्थ ! मेरी आज्ञा से तूं इनकी सेवा में रहना और आनेवाले मरणांत उपसर्गों को दूर करना ।'

इतना कहकर इन्द्र देवलोक में चला गया ।

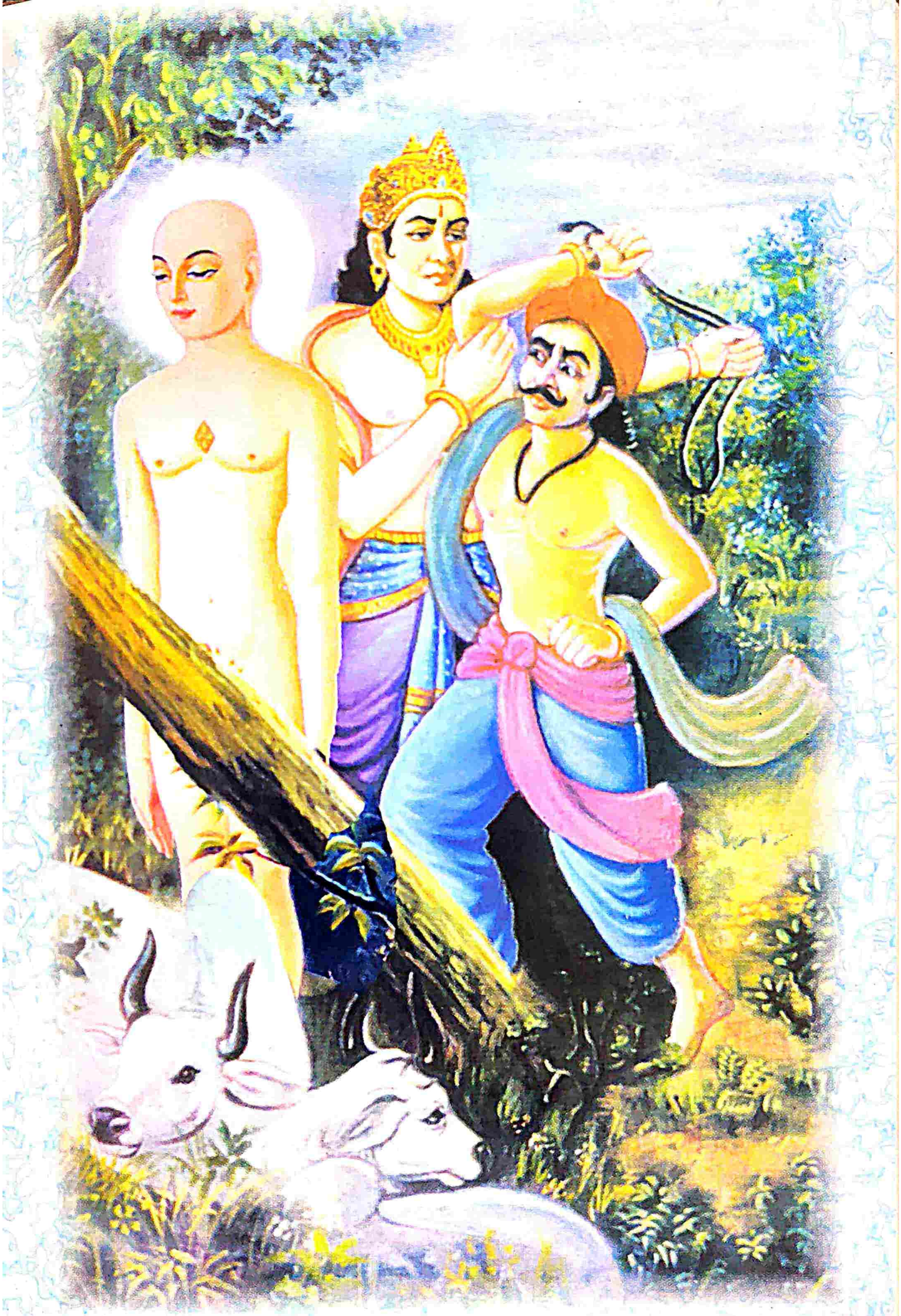

ग्वाले का उपसर्ग

२१. वस्त्र-दान

क्षत्रियकुंड नगर !

उस नगर में सोम नाम का ब्राह्मण रहता था । पिता की संपत्ति उसने जुएँ में नष्ट कर दी । वह कंगाल हो गया । वह दाने-दाने के लिए तरसने लगा । आखिर एक दिन अपनी पत्नी की प्रेरणा से क्षत्रियकुंड नगर को छोडकर धन कमाने के लिए विदेश चला गया । परन्तु भाग्यहीन को लक्ष्मी कहाँ से ? अंतराय कर्म के तीव्र उदय के कारण अनेक गांव-नगर व देशों में भटकने पर भी वह कुछ भी धन कमाए बिना वापस अपनें नगर लौट आया ।

उसकी पत्नी को आशा थी कि उसके पति खूब धन कमाकर आएंगे...परन्तु जब उसने देखा कि वे कुछ भी लेकर नहीं आए हैं, तब उसे अत्यंत ही आघात लगा । वह अपनें पति को ठपका देती हुई बोली,

'ओ पापी ! सिद्धार्थ-नंदन यहाँ एक वर्ष तक पुष्करावर्त मेघ की भांति निरंतर बरसे । याचकों को मुंह-मांगा दान देकर उन्होंने जगत् को द्रव्य दारिद्र्य से मुक्त किया । यदि तुम शीघ्र लौट आते तो कम से कम ऐसी दरिद्रता तो सहन करनी नहीं पडती । उनके दान के प्रभाव से कितने गरीब व्यक्ति समृद्ध बन गए है ! क्या तुमने कहीं भी उनके दान की बात नहीं सुनी ?'

पत्नी की इस बात को सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा, 'अर्थार्जन के लिए मैं दूर-दूर देश में भटका हूँ, परन्तु दुर्भाग्यता के कारण कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका । दूर-देशांतर में चले जाने के कारण मुझे इस बात के समाचार नहीं मिल पाए कि सिद्धार्थ नंदन ने दिल खोलकर दान दिया है ।'

ब्राह्मणी ने कहा, **'यद्यपि सिद्धार्थ नंदन ने सब कुछ छोड दिया हैं, फिर भी तुम उनके पास जाओ और याचना करो वे करुणा के भंडार है, अतः अवश्य कुछ देंगे ।'**

पत्नी की प्रेरणा से वह ब्राह्मण क्रमशः शोध करता हुआ प्रभु के पास आया और याचना करते हुए बोला, 'हे दयालु प्रभु ! मैं दुर्भागी शेखर हूँ । इस पेट की पूर्ति के लिए मैं कहाँ-कहाँ नहीं भटका हूँ ? किस-किसके आगे मैंने दीनता व याचना नहीं की ? परन्तु तीव्र पापोदय के कारण मैं कुछ भी प्राप्त नहीं कर सका । मेरी कंगाल जैसी हालत है । आप तो मेघ की भांति एक वर्ष तक निरंतर बरसे हो । संपूर्ण जगत् को आपनें दारिद्र्य से मुक्त कर दिया...परन्तु दुर्भागी ऐसा मैं इसी दीन-हीन हालन में पडा रहा ।

प्रभो ! आप मुझ रंक पर कृपा करों और मेरा दारिद्र्य दूर करो ।'

अत्यंत दयनीय और करुण स्वर में उस ब्राह्मण ने प्रभु के पास याचना की, तब प्रभु का हृदय दया से भर आया ।

प्रभु ने कहा, **'हे देवानुप्रिय ! इस समय मैंने समस्त परिग्रह का त्याग किया है, फिर भी तेरी परिस्थिति को देख देवदूष्य का आधा भाग तुझे देता हूँ ।'**

इतना कहकर प्रभु ने देवदूष्य का आधा भाग उस गरीब ब्राह्मण को दे दिया ।

आधे देवदूष्य को पाकर वह ब्राह्मण अत्यंत ही खुश हो गया और वह उसका मूल्य पाने के लिए किसी बुनकर के घर गया ।

दिव्य वस्त्र को देखकर वह बुनकर खुश हो गया । उसने पूछा, 'यह कहाँ से लाया ?'

ब्राह्मण ने कहा, 'यह तो प्रभु ने मुझे दान में दिया है ।'

बुनकर ने कहा, 'यदि इसका आधा भाग भी तुम ले आओ तो मैं उन दोनों टूकडों को इस प्रकार सी लूंगा कि इसके भेद का पता नहीं लगेगा, जिसके फलस्वरुप उसकी बडी कींमत एक लाख सोना मोहर प्राप्त हो सकेगी, जिससे हम दोनों का दारिद्र्य सदा के लिए मिट जाएगा ।'

ब्राह्मण ने कहा, 'अब मैं दूसरी बार प्रभु के पास कैसे याचना करुं ?'

बुनकर ने कहा, 'तुझे मांगने की जरुरत नहीं है, तूं प्रभु के पीछे पीछे चलना, यह वस्त्र कहीं कांटे में लग जाए तो तूं प्राप्त कर लेना ।'

बुनकर की बात ब्राह्मण को पसंद आ गई । वह भगवान के पास गया और प्रभु के विहार समय पीछे-पीछे चलने लगा ।

...एक दिन अचानक वह वस्त्र किसी कांटे में लग जाने से नीचे गिर गया । बस, ब्राह्मण ने वह वस्त्र उठा लिया । उस वस्त्र को लेकर वह बुनकर के पास आया ।

उस बुनकर ने उन दोनों टुकडों को अच्छी तरह से जोड लिया, जिसके फलस्वरुप उसे १ लाख सोना मोहरें प्राप्त हुई । उन दोनों ने वह धन आधा-आधा बांट लिया । दोनों का दारिद्र्य सदा के लिए दूर हो गया ।

भगवान महावीर का परिवार

गण	९
गणधर	११
साधु	१४०००
साध्वी	३६०००
श्रावक	व्रतधारी १,५९,०००
श्राविका	व्रतधारी ३,१८,०००
शिष्यों में से केवली	७००
केवलज्ञानी साध्वियाँ	१४००
मन:पर्यवज्ञानी	५००
अवधिज्ञानी	१३००
चौदह पूर्वधर	३००
वैक्रिय लब्धिधारी	७००
वादी	४००
अनुत्तर विमान में गए मुनि	८००

वस्त्रदान

२२. शूलपाणि यक्ष

कोशांबी नगरी !

अमाप संपत्ति का मालिक धन नाम का श्रेष्ठी था, उसके धनदेव नाम का पुत्र था। एक दिन धनदेव ५०० बैलगाडियों में अनाज भरकर धन कमाने के लिए कोशांबी नगरी से निकल पडा। वह क्रमशः व्यापार करता हुआ वर्धमान गांव के समीप आया। उस गांव के बाहर अत्यंत ही कींचड वाली नदी थी। बैलगाडियाँ उस कींचड़ में फँस गई...परन्तु एक अत्यंत ही पराक्रमी बैल की मदद से वे सारी गाडियाँ नदी में से बाहर आ गई।

अतिसाहस करने के कारण उस बैल के सभी सांधे टूट गए। उसके मुंह में से खून बहने लगा।

धनदेव ने सोचा, `यह बैल आगे चलने में असमर्थ हैं।' उसने वर्धमान गांव के मुखिये को बुलाया और घास-चारा आदि का प्रबंध कर कहा, `यह बैल आगे चलने में समर्थ नहीं है, इसने हमें खूब मदद की हैं, अतः जीवनभर इसका अच्छी तरह से पालन-पोषण करना।'

धनदेव की बात सुनकर गांव के मुखिये ने धनदेव को आश्वासन दिया कि आप इस बैल की लेश भी चिंता न करें।

धनदेव ने उस बैल को अपनें हाथों से घास-चारा डाला और बाद में अश्रुभिनी विदाई ली।

धनदेव के जाने के बाद उस स्वार्थी मुखिये ने बैल की लेश भी चिंता नहीं की और वह सारा धन स्वयं खा गया।

भूख और प्यास से दुःखदायी स्थिति में एक कोने में पडा हुआ वह बैल सोचने लगा, `अहो ! गांव के लोग कितने दयाहीन है ? ये कितने निर्दयी है ?' ग्रामवासियों पर अत्यंत ही कूपित वह बैल अकाम निर्जरा से मरकर शूलपाणि व्यंतर बना।

उस व्यंतर ने अपनें विभंगज्ञान से अपना पूर्व भव देखा। वह नगरवासियों के प्रति अत्यंत कूपित हो गया। उस व्यंतर ने नगर में चारों ओर **'मरकी'** बीमारी फैला दी। चारों ओर लोग मरने लगे। ग्रामीणजनों की अकाल मृत्यु के कारण चारों ओर हड्डियों के ढेर होने लगे।

लोग गाँव छोड-छोडकर अन्यत्र जाने लगे, फिर भी वह उपद्रव शांत नहीं हुआ।

वे ग्रामवासी पुनः अपनें गांव में आए और स्नानादि कर बलि-पुष्प आदि से पूजा करते हुए आकाश की ओर अंजलि कर बोले, `हे देव गंधर्वो ! आप हमारी विनती सुनें। अज्ञान-अविनय व मद के कारण हम से कोई अपराध हो गया हो तो आप क्षमा करें और आप हम पर कृपा करें।'

ग्रामवासियों की प्रार्थना सुनकर उस देव ने कहा, `भूख और प्यास से पीडित उस बैल की उपेक्षा करते हुए तुम्हें शर्म नहीं आई ?

देव की इस बात को सुनकर सभी ग्रामवासी विनम्रता से प्रार्थना करते हुए बोले, `हमसे से जो अपराध हो गया है, उन्हें आप क्षमा करें। हम आपकी शरण स्वीकार करते है, हमारे लिए तो आप ही शरण हो।'

ग्राम्यजनों की इस बात को सुनकर वह व्यंतर कुछ शांत हुआ और उसने कहा, `इन हड्डियों का ढेर कर उसके ऊपर मंदिर बनाओं और उसमें बैल के रुप में मेरी मूर्ति

बनाओ ।'

ग्रामीणजनों ने देव की बात स्वीकार की । उन्होंने यक्ष का मंदिर बनाया । यक्ष की नियमित पूजा करने के लिए इन्द्रशर्मा नामक पुजारी को नियुक्त कर दिया । वह नियमित रुप से यक्ष की पूजा-स्तुति करने लगा । अस्थियों के ऊपर मंदिर का निर्माण होने से उस गाँव का नाम **'अस्थिकग्राम'** पड़ा ।

यदि कोई भिक्षु रात्रि में उस यक्षमंदिर में विश्राम करता तो वह यक्ष उन्हें मार देता। अतः इन्द्रशर्मा पूजारी दिन में यक्षदेव की पूजा कर रात्रि में अपनें घर चला जाता ।

श्रमण भगवान महावीर प्रभु पृथ्वीतल को पावन करते हुए उस गांव में पधारें। ग्रामवासियों ने प्रभु को ठहरने के लिए अन्य बस्ती दी, परन्तु प्रभु ने इन्कार कर दिया । उस यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए प्रभु ने उसी यक्षमंदिर की याचना की ।

प्रभु यक्ष-मंदिर के एक कोने में प्रतिमा में स्थिर हो गए ।

सायंकाल में इन्द्रशर्मा पुजारी ने अन्य सभी लोगों को यक्ष के मंदिर से बाहर निकाल दिया । उसने प्रभु को कहा, `आप यहां रात्रि में मत ठहरिये । अन्यथा वह व्यंतर आपको मार देगा ।'

प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया । प्रभु मौन ही खडे रहे ।

संध्या समय वह व्यंतर वहाँ आया और सोचने लगा, `अहो ! ग्रामीणजनों के रोकने पर भी यह कौन अभिमानी आया है ? अभी मैं इसके मद को दूर कर देता हूँ ।' इस प्रकार विचार कर उस यक्ष ने भयंकर अट्टहास किया । जिसे सुनकर ग्रामवासी भयभीत हो गए और सोचने लगे-`जरुर यह यक्ष स्वामी को मार देगा ।'

अट्टहास से भी प्रभु को भयभीत न देख उस यक्ष ने प्रभु को डराने के लिए पिशाच का रुप किया । फिर भी प्रभु भयभीत नहीं हुए । आखिर उसने सांप का रुप किया । प्रभु को भयंकर डंख देने लगा । फिर भी प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए । उसके बाद उसने प्रभु के मस्तक, नेत्र, कान, नाक, दांत आदि में भयंकर वेदना उत्पन्न की । फिर भी प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए । उस भयंकर वेदना को प्रभु ने समतापूर्वक सहन किया ।

उसी समय इन्द्र के द्वारा प्रभु के सेवा में नियुक्त सिद्धार्थ व्यंतर भी वहाँ आ गया और शूलपाणि यक्ष की भर्त्सना करते हुए बोला, `अरे सुराधम ! तुमने यह क्या कर डाला ? तीन लोक को पूजनीय, महावीर प्रभु को तूं नहीं पहिचानता है ? इन्द्र को इस बात का पता लग गया तो वे तुझे भयंकर सजा करेंगें ।'

सिद्धार्थ की इस बात को सुनकर शूलपाणि यक्ष भयभीत होकर अपनें पाप का पश्चाताप करने लगा ।

शूलपाणि यक्ष को शांत देखकर सिद्धार्थ ने उसे देव-गुरु व धर्म का स्वरुप समझाया । जिसे सुनकर उसने भी सम्यक्त्व प्राप्त किया । उसके बाद प्रभु के चरणों में नमस्कार कर वह प्रभु के समक्ष गीत गान करने लगा ।

प्रातःकाल में यक्ष की इस गीत ध्वनि को सुनकर ग्रामवासियों ने अनुमान किया कि उस यक्ष ने स्वामी को खत्म कर दिया है, इसीलिए वह खुशी से नाचगान कर रहा है ।

कुछ न्युन चार प्रहर तक निरंतर देवकृत उपसर्गों को सहन करने के कारण प्रभु को थोडी देर के लिए नींद आ गई उस नींद में प्रभु ने दस स्वप्न देखें ।

प्रातः काल हुआ !

पूर्व दिशा में सहस्त्र-रश्मि सूर्य का आगमन हुआ । चारों ओर पक्षियों का कलरव प्रारंभ हो गया...उसी समय नगरवासी, इन्द्रशर्मा पुजारी व निमितज्ञ उत्पल आदि भी यक्ष के मंदिर में आए । महावीर प्रभु को स्वस्थ देख सभी लोग प्रसन्न हुए । लोगों ने पुष्प आदि से प्रभु की पूजा की ।

उसी समय उत्पल भी प्रभु को पहिचान कर एक शिष्य की भांति प्रभु के चरणों में बैठ गया । प्रभु ने अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया ।

उत्पल ने पुनः प्रभु को नमस्कार किया और बोला, 'हे प्रभो ! रात्रि में आप ने जो दस स्वप्न देखे है, यद्यपि आप तो परमज्ञानी होने से उन स्वप्नों के अर्थ जानते हो, फिर भी मैं अपनें अल्पज्ञान से उन स्वप्नों का अर्थ कहता हूँ ।'

- पहले स्वप्न में आप ने ताल पिशाच को मारा हुआ देखा, इसके फल स्वरुप आप मोह का नाश करोगे ।
- दूसरे स्वप्न में श्वेत पक्षी देखे, इसके फल स्वरुप आप शुक्ल-ध्यान में लीन बनोगे ।
- तीसरे स्वप्न में आपने विचित्र कोयल देखी, जिसके फलस्वरुप आप द्वादशांगी की प्ररुपणा करोगे ।
- पांचवें स्वप्न में आपने उपासना करते हुए गोवर्ग को देखा, इसके फल स्वरुप चतुर्विध संघ आपकी सेवा करेगा ।
- छट्ठे स्वप्न में आपने पद्म सरोवर देखा अतः चारों निकाय के देवता आपकी उपासना करेंगे ।
- सातवें स्वप्न में आपने सागर को पार करते हुए देखा, इसके फल स्वरुप आप संसार सागर के पार को प्राप्त करोगे ।
- आठवें स्वप्न में आपने सूर्य देखा अतः आप अल्प समय में केवलज्ञान प्राप्त करोगे ।
- नौवे स्वप्न में आपनें उदर से आंतों को बाहर निकालकर मानुषोत्तर पर्वत को वींटलाते हुए देखा, इसके फलस्वरुप आपका यश त्रिभुवन में प्रसारित होगा ।
- दसवें स्वप्न में आपने मेरु पर्वत के शिखर पर आरुढ हुए देखा । इसके फल स्वरुप आप देव-दानव व मानव की सभा में धर्मोपदेश देंगे ।

चौथे स्वप्न में आपनें जो दो फूलों की माला देखी, उसका अर्थ मुझे पता नहीं है ।

प्रभु ने कहा, 'उसका फल यह है कि मैं साधु और श्रावक ऐसे दो प्रकार के धर्म की प्ररुपणा करुंगा ।

इस बात को सुनकर उत्पल खुश हो गया और प्रभु को नमस्कार कर अन्यत्र चला गया ।

प्रभु ने भी वहीं पर १५-१५ दिन के उपवास व अभिग्रह करके चातुर्मास पूर्ण किया और उसके बाद वहाँ से विहार प्रारंभ किया ।

उस समय शूलपाणि यक्ष भी प्रभु के पीछे चला और फिर प्रभु को नमस्कार कर बोला, 'हे प्रभो ! आपके ऊपर उपसर्ग करने के कारण मेरे समान कोई अधम नहीं है ! हे प्रभो ! आप मेरे उद्धार के लिए ही यहाँ पधारे ।'

इस प्रकार प्रभु की स्तवना कर शूलपाणि यक्ष वापस लौट आया और प्रभु भी अन्यत्र विहार कर गए ।

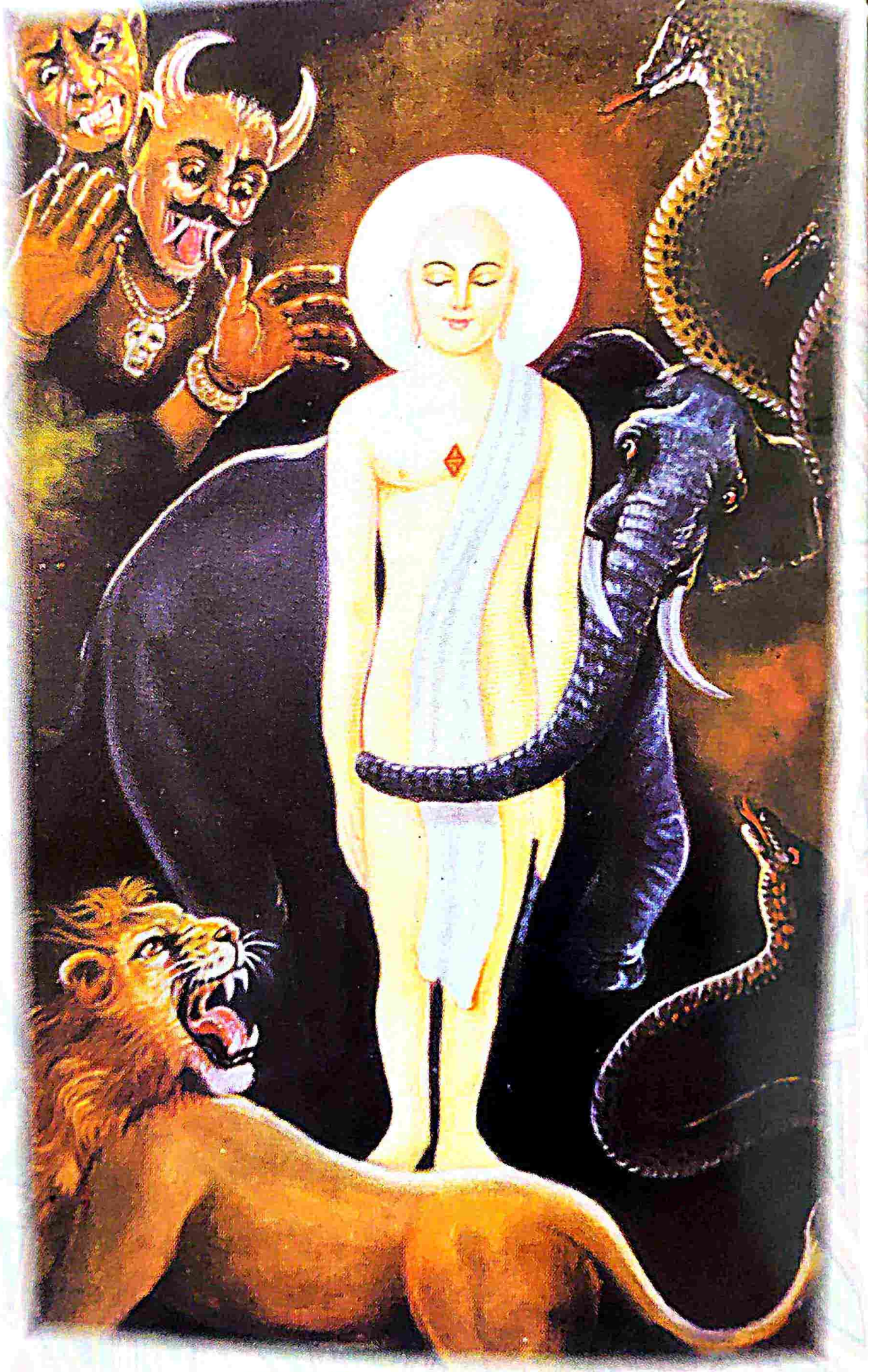

शूलपाणि यक्ष का उपसर्ग

२३. उपसर्ग-निवारण

मथुरा नगरी !

जिनदास श्रावक और साधुदासी श्राविका ।

जिनदास व साधुदासी दोनों जिन धर्म के परम उपासक थे । उन्होंने श्रावक जीवन के अलंकार स्वरुप बारह व्रतों का स्वीकार किया था ।

पांचवें परिग्रह परिमाण अणुव्रत में उन्होंने चतुष्पद गाय-बैल आदि पशु नहीं रखनें का नियम रखा था । वे किसी ग्वालिन से हमेंशा दुध-दही खरीद लेते थे ।

एक बार वह ग्वालिन बहुत सा दही लेकर आई । साधुदासी श्राविका ने वह सारा दही खरीद लिया और बोली, 'तुझे दुध-दही बेचने के लिए कहीं जाने की जरुरत नहीं है ।

वह ग्वालिन खुश हो गई और हमेंशा दूध-दही लाने लगी । वे भी खुश होकर उस ग्वालिन को वस्त्र आदि भेंट देने लगे । इस प्रकार उन दोनों के बीच में परस्पर खुब स्नेह बढ गया ।

एक बार उस ग्वालिन के घर लग्न का प्रसंग आया । उस ग्वालिन ने उन दोनों को लग्न प्रसंग पर आने के लिए आमंत्रण दिया...परन्तु उन दोनों ने अपनी असमर्थता बतलाई और कहा, 'विवाह के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता हो तो तुम ले जा सकते हो ।'-इतना कहकर साधुदासी ने उसे अन्न, वस्त्र, अलंकार आदि प्रदान किये ।

साधुदासी द्वारा दी गई सामग्री से उन ग्वालिन का विवाहकार्य बहुत ही अच्छे ढंग से संपन्न हो गया, अतः प्रसन्न होकर ग्वाले ने तीन वर्ष के **कंबल-शंबल** नाम के बछडें जबरदस्ती उसके घर बांध दिए ।

जिनदास ने सोचा, 'यदि इन बछडों को मैं नहीं रखूंगा तो इन्हें हल आदि में जोड़ा जायेगा...अतः अब मैं क्या करुं ?'

इस प्रकार विचार कर वह श्रेष्ठी उन दोनों बैलों का प्रासुक घास और छने हुए पानी से पालन-पोषण करने लगा ।

अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जब श्रेष्ठी पौषध कर धार्मिक पुस्तक पढता तो वे बछडे भी पास में बैठकर सुनते और सेठ के उपवास करने पर वे दोनों बैल भी उपवास करते ।

सेठ उन दोनों बछडों का एक साधर्मिक की तरह पालन पोषण करने लगा ।

एक दिन **भंडीर** यक्ष की यात्रा का महोत्सव आया । उस समय ग्रामवासियों ने वाहनों की दौड का आयोजन किया । उस दिन जिनदास के एक मित्र ने बिना पूछे ही उन दोनों बैलों को बैलगाडी में जोड दिया और भंडीर यक्ष की यात्रा में उनको खूब दौडाया । पहली बार दौडने कारण वे बैल अत्यंत ही थक गए । उस मित्र ने लाकर जिनदास के घर में वे बैल छोड दिए ।

सेठ ने उन दोनों बैलों की बूरी हालत देखी, इससे उसे बहुत ही दुःख हुआ । सेठ ने घास-चारा व पानी दिया, परन्तु उन्होंने कुछ भी नहीं खाया ।

सेठ ने थाली में अन्य भोजन रखा, फिर भी उन बैलों ने कुछ भी नहीं खाया। सेठ ने उन दोनों के भावों को जानकर अनशन व्रत दिया और उन्हें नवकार मंत्र सुनाया। उस नवकार-मंत्र के प्रभाव से वे दोनों कंबल-शंबल बैल समाधि मृत्यु प्राप्त कर **नागकुमार** देव बनें।

भगवान महावीर परमात्मा पृथ्वीतल को पावन करते हुए **सुरभिपुर** नगर पधारे। बीच मार्ग में गंगा नदी तेजी से बह रही थी। प्रभु नदी के तट पर आए। उस नदी को पार करने के लिए एक नाविक ने अपनी नाव तैयार की। अन्य लोगों के साथ प्रभु भी उस नाव में आरुढ हुए। जैसे ही नाव चलने लगी, उसी समय नदीतट पर उल्लु आवाज करने लगे। जिसे सुनकर खेमिल नाम के निमितज्ञ ने कहा, 'अहो ! बीच मार्ग में भयंकर आपत्ति आएगी परन्तु इस महर्षि के प्रभाव से सभी बच जायेंगे।'

धीरें धीरें नाव आगे बढने लगी। नदी के मध्य में पहुँचने के साथ ही **सुदाढ** नाम के नागकुमार ने अपनें पूर्व वैर को याद कर नदी में भयंकर तुफान चालू किया।

त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में भगवान महावीर की आत्मा ने जिस सिंह को जीर्ण वस्त्र की भांति चीर डाला था, वही सिंह अनेक भवों में भटककर सुदाढ नागकुमार बना था।

अपनें पूर्वभव के वैर को याद कर उसने नाव को डूबा देने के लिए भयंकर तुफान चालू किया। उस तुफान में नाव डिगमगाने लगी। भयंकर पवन के कारण गंगा का जल उछलने लगा। नाव के स्तंभ टूटने लगे। नाविक ने नाव को बचाने के लिए भरसक प्रयत्न किए...परन्तु इस दैविक उपसर्ग के आगे वह लाचार बन गया।

उसी समय कंबल-शंबल नाम के नागकुमारों के आसन कंपित हुए। अपनें अवधिज्ञान के बल से प्रभु पर आए उपसर्ग को देखकर तुरंत ही वहाँ आ गए।

एक देव ने सुदाढ के साथ युद्ध प्रारंभ किया और दूसरे देव ने अपनें हाथों से उस नाव को किनारे पर लाकर रख दी। उसके बाद वे देव प्रभु को नमस्कार कर गुणगान करने लगे, जिसे देख नाव में बैठे सभी लोगों को खूब आश्चर्य हुआ और सोचने लगे कि ये कोई महापुरुष लगते है...इसके प्रभाव से ही हम इस आपत्ति से बच सके है।'-इस प्रकार विचार कर वे लोग भी प्रभु को नमस्कार करने लगे। उसके बाद कंबल-शंबल देव भी प्रभु को वंदन कर अपनें स्थान में चले गए।

प्रभु के ५ कल्याणक

१ च्यवन कल्याणक	असाढ सुदी ६
२ जन्म कल्याणक	चैत्र सुदी १३
३ दीक्षा कल्याणक	मगसर वदी १०
४ केवलज्ञान कल्याणक	वैशाख सुद १०
५ मोक्ष कल्याणक	कार्तिक वद अमावस्या

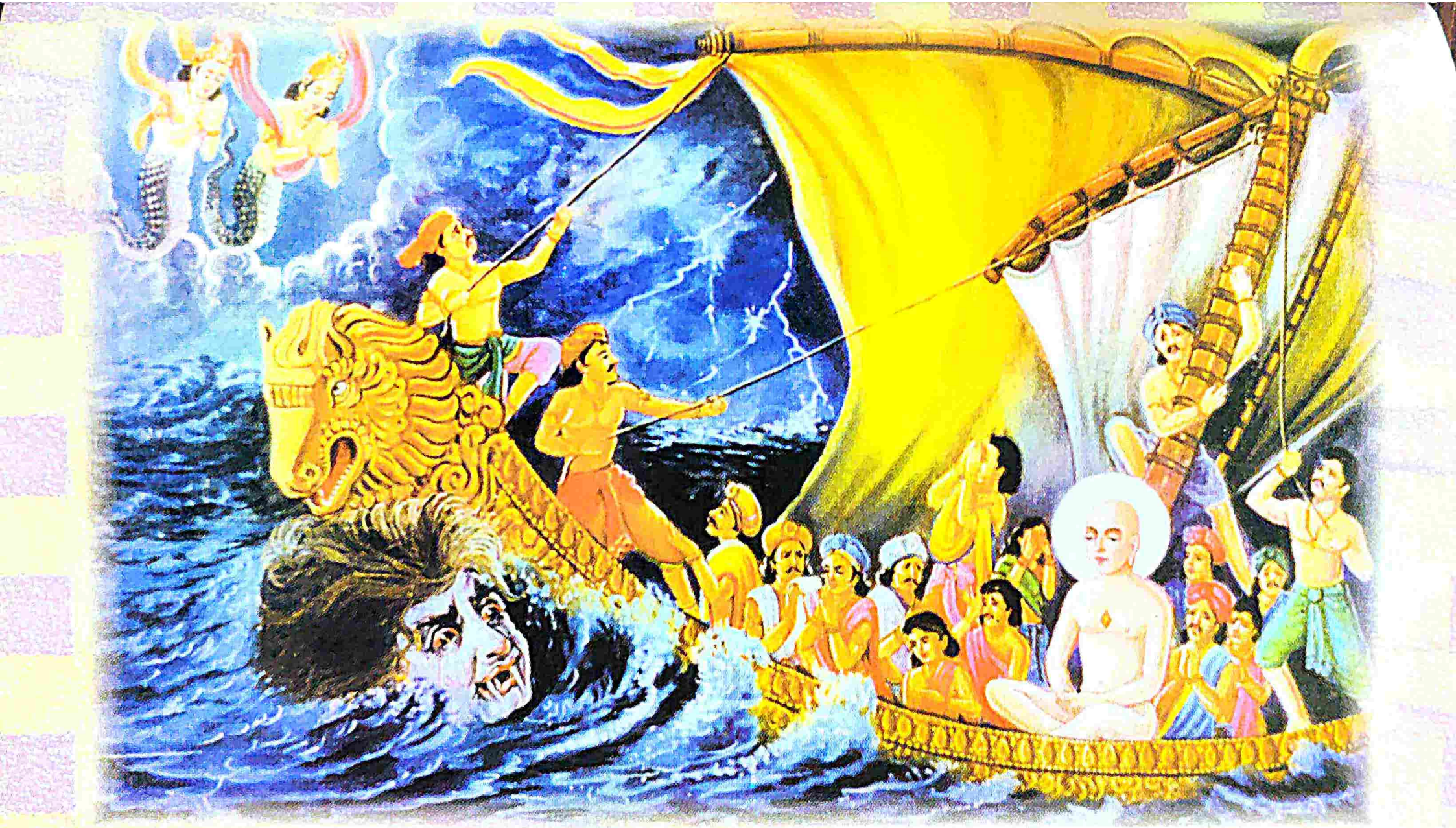

उपसर्ग निवारण

२४. संगम का उपसर्ग

महावीर प्रभु देव-मनुष्य व तिर्यंच कृत उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करते हुए पृथ्वीतल को पावन करते हुए म्लेच्छों से व्याप्त **दृढ भूमि** में पधारें ।

वहाँ एक दिन **पेढाल** गाँव के बाहर **पेढाल** नाम के उद्यान में पोलास चैत्य में चोविहार अट्ठम तप पूर्वक रात्रि की महाप्रतिमा में खडे रहे ।

अपनें अवधिज्ञान के बल से प्रभु के अप्रतीम शौर्य को देखकर इन्द्र महाराजा का मस्तक सद्भाव से झुक गिया । वह अपनें सिंहासन से खडा हो गया, और अत्यंत ही भक्तिभाव से प्रभु को नमस्कार करके बोला, 'हे देवो ! तुम सब लोग भगवान महावीर प्रभु की अद्भुत महिमा सुनो, 'वे प्रभु पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त है । उन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लिया है । कोई देव, दानव या मनुष्य उन्हें अपनें ध्यान से चलित नहीं कर सकता है ।'

इन्द्र के मुख से प्रभु की मुक्त कंठ से प्रशंसा सुनकर एक मिथ्यादृष्टि **संगम देव** को गुस्सा आ गया । प्रचंड कोप से अपनें होठ फडफडाते हुए बोला, 'अरे ! एक मानव कीट की यह प्रशंसा ! देव के सामने इस मानवी की क्या ताकत है ? मैं अभी चलता हूँ और उन्हें ध्यान से चलित कर आता हूँ'-इस प्रकार कहकर वह सभा मंडप से बाहर निकल गया ।

इन्द्र ने सोचा, 'यह तो महापापी है, अतः यदि मैं इसको रोकूंगा तो यह मान लेगा कि प्रभु अपनी शक्ति से नहीं किंतु इन्द्र की शक्ति से ध्यान में स्थिर है ।' इस प्रकार विचार कर इन्द्र मौन रहे । संगम देव चंद क्षणों में ही प्रभु के पास आ गया ।

उपसर्ग -

१) संगम देव ने सर्वप्रथम प्रलयकाल के समान अत्यंत ही भयंकर धूल की वृष्टि की, पैर से लेकर आंख-कान तक प्रभु को आच्छादित कर दिया । प्रभु का श्वास भी बंद हो गया- फिर भी प्रभु अपनें ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए ।
२) उसके बाद वज्रमुखवाली चींटियों का उपद्रव चालू किया । वे चींटिया प्रभु को काटने लगी ।
३) उसके बाद सुई के समान तीक्ष्ण मुखवाले डांस प्रगट किए...
४) उसके बाद प्रचंड मुखवाली मक्खियाँ उत्पन्न की...वे भी प्रभु को कांटने लगी ।
५) उसके बाद भयंकर बिच्छु उत्पन्न किए, वे प्रभु को डंख देने लगे ।
६) उसके बाद संगम ने भयंक दाढ वाले नेवले उत्पन्न किए ।
७) उसके बाद भयंकर फणवाले सर्प पैदा किए जो चंदन वृक्ष की तरह प्रभु के शरीर को विंट कर प्रभु को काटने लगे ।
८) उसके बाद चुहें प्रगट किए ।
९) उसके बाद भयंकर हाथी प्रगट किया, जो अपनी सुंढ द्वारा प्रभु को पीडा देने लगा ।
१०) उसके बाद हथिनी पैदा कर प्रभु को हैरान करने लगा ।
११) उसके बाद तीक्ष्ण नाखुन वाला व्याघ्र प्रगट किया, जो अपनें तीक्ष्ण नाखुनों द्वारा प्रभु को पीडा देने लगा ।
१२) उसके बाद सिद्धार्थ व त्रिशला का रुप कर करुण विलाप द्वारा प्रभु को चलित करने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु निर्मोही ऐसे प्रभु पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पडा ।
१३) उसके बाद सैन्य के पडाव की रचना कर प्रभु के पैरों के बीच अग्नि जलाकर ऊपर

बर्तन रखकर रसोई बनाने लगा ।

१४) उसके बाद अनेक पक्षियों के पिंजरे प्रभु के कान, भूजा व स्कंध आदि पर लटकाए । वे पक्षी पिंजरे में से बाहर निकल कर प्रभु के शरीर पर चोंच मारने लगे ।

१५) उसके बाद कल्पांतकाल समान रजकणों से युक्त प्रचंड पवन उत्पन्न किया ।

१६) उसके बाद उद्भ्रामक वायु उत्पन्न कर प्रभु के देह को घुमाया ।

१७) उसके बाद मेरु चुला को भी चूर्ण करने में समर्थ ऐसा सहस्त्र भार प्रमाण **कालचक्र** प्रभु के ऊपर फेंका, जिससे प्रभु जानु प्रमाण जमीन में धंस गए ।

१८) फिर भी प्रभु जब अपनें ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए तब उसने प्रभात उत्पन्न कर सामानिक देव की ऋद्धि बतलाकर प्रभु को कहा, 'हे देवार्य ! तेरे तप-जप से मैं प्रसन्न हूँ, तूं यह कष्ट क्रिया छोड दे, तूं कहे तो तुझे स्वर्ग में ले चलूं । तूं अन्य सब विकल्प छोड दें ।'

१९) इतना कहने पर भी प्रभु जब अपनें ध्यान से लेश भी चलित नहीं हुए तब प्रभु को चलित करने के लिए देवांगनाओं की रचना कर अनेक हावभाव बताने लगा ।
इस प्रकार संगम देव ने एक ही रात्रि में प्रतिकूल-अनुकूल सभी उपसर्ग कर लिये...परन्तु वीर प्रभु लेश भी चलित नहीं हुए ।

२०) संगम के आश्चर्य का पार न रहा । उसने सोचा, 'दीर्घ काल तक उपसर्ग करने से ये जरुर चलायमान होंगे ।' इस प्रकार विचार कर उस संगम ने निरंतर छः मास तक प्रभु की भिक्षा में अंतराय उत्पन्न किया । फिर भी वह प्रभु को चलित नहीं कर सका ।

'जिस प्रकार इन्द्र ने आपकी प्रशंसा की थी, वैसा ही आपका स्वरुप है । इन्द्र के वचन की अश्रद्धा के कारण ही मैंने निरर्थक आपके ऊपर उपसर्ग किये । आप सत्य प्रतिज्ञ है और मैं भ्रष्ट प्रतिज्ञावाला हूँ ।'

इतना करकर वह संगम चला गया ।

जितने समय तक संगम प्रभु के ऊपर उपसर्ग करता रहा, उतने समय तक सौधर्म देवलोक में इन्द्र आदि सभी देव-देवी शोकमग्न, उत्साह-हीन होकर रहे ।

इन्द्र सोचने लगा, **'अहो ! प्रभु के ऊपर आए इन समस्त उपसर्गों का मूल कारण मैं ही हूँ । मैंने तो प्रभु के गुणों की प्रशंसा की, परन्तु वो ही प्रशंसा प्रभु के उपसर्गों का कारण बन गई ।'**

अपनी प्रतिज्ञा भंग से लज्जित बने संगम ने जैसे ही सौधर्म सभा में प्रवेश किया, उसी समय इन्द्र ने अपना मुंह फेर लिया और बोला, 'हे देवों ! इस पापी चांडाल का मुंह देखने जैसा नहीं है । परमात्मा के ऊपर घोरातिघोर उपसर्ग कर भयंकर अपराध किया है । इसे भव भ्रमण का तो डर नहीं लगा, किंतु मेरा भी भय नहीं लगा, यह कितने आश्चर्य की बात है ?'

अब इस पापी का यहाँ ठहरना भी हमारे पाप के लिए हैं, अतः इस सुराधम को यहाँ से बाहर निकालता हूँ ।' इतना कहकर अपनें पैर से ठोकर लगाकर इस संगम को देवलोक से बाहर निकाल दिया ।

इन्द्र से अपमानित बना वह संगम देव अन्य देव-देवियों से भी तिरस्कृत बना हुआ मेरु पर्वत की शिखा पर चला गया । जहाँ रहकर वह अपना एक सागरोपम का अवशिष्ट आयुष्य पूर्ण करेगा ।

इधर दूसरे दिन प्रभु ने गोचरी के लिए गोकुल में प्रवेश किया और वहाँ एक ग्वालिन ने प्रभु को क्षीर से पारणा कराया । उस समय देवताओं ने वहाँ पर पंचदिव्य प्रगट किए ।

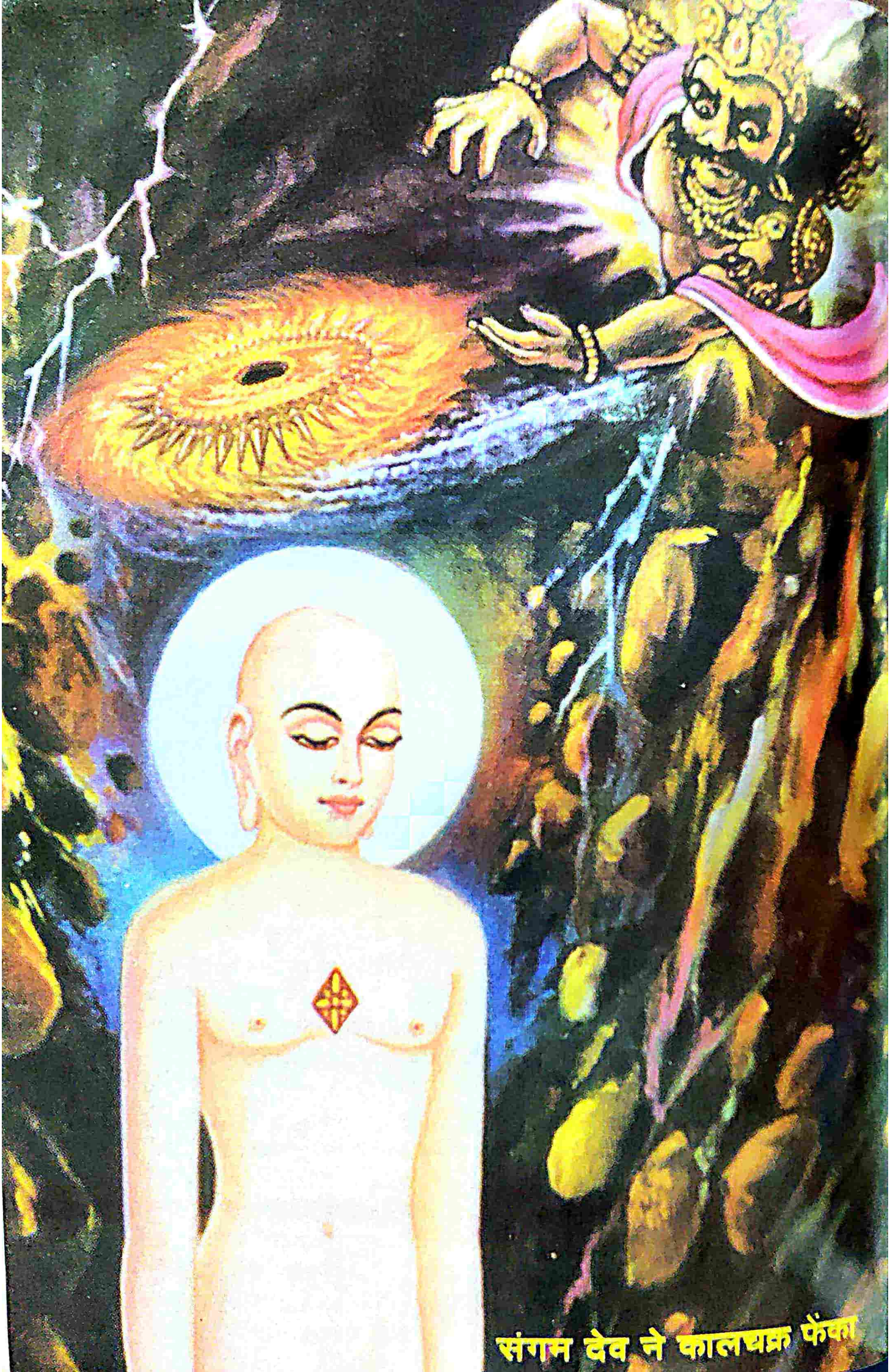

संगम देव ने कालचक्र फेंका

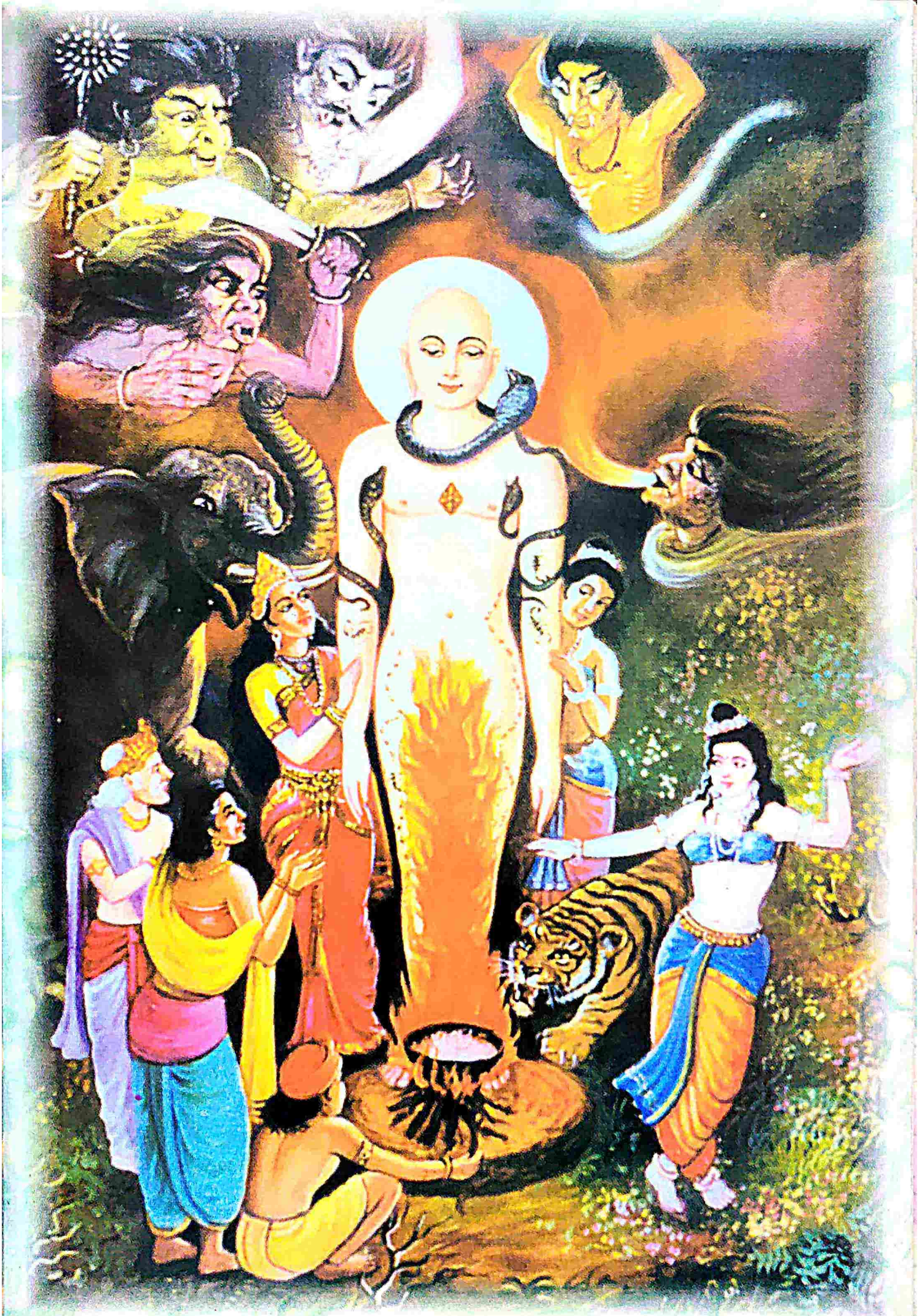

भयंकर उपसर्ग

२५. अभिग्रह-पूर्णाहुति

एक दिन शतानिक राजा ने अपनें विराट् सैन्य के साथ चंपा नगरी को घेर लिया। चंपा के अधिपति दधिवहन राजा की कोई तैयारी नहीं थी कि वह शतानिक राजा व उसके सैन्य से मुकाबला कर सके ।

मंत्री की सलाह से दधिवाहन राजा ने अपनें सैनिकों को स्वेच्छानुसार लूंट चलाने के लिए आदेश दिया । बस, सभी सैनिक अपनी अपनी इन्छानुसार लूंट चलाने लगे ।

दधिवाहन राजा के नगरत्याग को जानकर धारिणी महारानी व उसकी पुत्री वसुमती अपनें प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगी । आखिर किसी राजसेवक ने उन्हें पकड लिया और रथ में बिठाकर आगे बढने लगा ।

धारिणी के अद्भुत रुप व लावण्य को देखकर उस राजसेवक ने किसी को कहा, 'इस स्त्री को मैं अपनी पत्नी बना दूंगा ।'

इस बात को सुनकर धारिणी को अत्यंत ही आघात लगा । उसने तत्काल आत्म हत्या कर दी ।

धारिणी की मृत्यु को देखकर उस राजसेवक को बड़ा दु:ख हुआ । वसुमती को कुछ भी कहे बिना उसे ले जाकर कौशांबी चला गया और वहाँ बाजार में जाकर उस कन्या को बेचने के लिए खडा हो गया ।

उसी समय धनावह सेठ वहाँ आया । वसुमती कन्या को देखकर वह सोचने लगा, `अहो ! रुप आदि गुणों से यह सामान्य कन्या नहीं लगती है । माता-पिता के वियोग के कारण ही इस कन्या की यह हालत हुई हैं । क्यों न अधिक मूल्य देकर भी मैं इसे खरीद लूँ । मुझे अन्य संतान भी तो नहीं है, अत: इसका पुत्री की तरह पालन-पोषण भी कर सकूंगा ।'

इस प्रकार विचार कर उस सेठ ने उस राजसेवक को मुंह मांगा धन देकर वसुमती को खरीद ली ।

धनावह सेठ उस कन्या को अपनें घर ले गया । उसने उसका परिचय आदि पूछा । परन्तु लज्जा व शर्म के कारण वह कुछ भी कहने में असमर्थ थी ।'

सेठ ने अपनी पत्नी मूला को कहा, 'इस कन्या का पुत्री की तरह पालन करना ।'

वह कन्या धनावह सेठ के वहाँ सुखपूर्वक रहने लगी । चंदन के समान शीतल वाणी देखकर धनावह सेठ ने उस कन्या का नाम 'चंदनबाला' कर दिया ।

धीरें धीरें समय व्यतीत होने लगा । उस कन्या ने यौवन के प्रांगण में प्रवेश किया । पूर्णिमा के विकसित चंद्र की भांति उसका रुप और लावण्य एकदम खिल उठा । एक दिन ईर्ष्यावश बनी मूला सेठानी के मन में कुविकल्प पैदा हुआ । 'इसके रुप व लावण्य से आकृष्ट बने मेरे पति अवश्य ही इसके साथ पाणिग्रहण कर इसे अपनी पत्नी बना देंगे, अत: मुझे ऐसा कोई उपाय अवश्य करना चाहिये, जिससे यह पापिनी नष्ट हो जाय ।' इस

प्रकार विचार कर वह मूला चंदना के छिद्र देखने लगी ।

एक बार सेठ बाजार से घर लौटे । उस समय सेठ के पाद-प्रक्षालन के लिए कोई नौकर नहीं होने से चंदना सेठ के पादप्रक्षालन के लिए खडी हो गई । अपनें पिता तुल्य सेठ के पैर धोने लगी । उस समय उसका केशकलाप भूमि पर गिर पडा । धनावह सेठ ने सहजभाव से उसके केशकलाप को भूमि पर से उठाकर बांध दिया ।

यह दृश्य मूला ने देख लिया । यह दृश्य देखते ही उसके हृदय में ईर्ष्या की आग प्रज्वलित हो गई ।

थोडी देर बाद सेठ जैसे ही बाहर चले गए...मूला ने हजाम को बुलाकर चंदना का सिर मुंडन करा दिया । उसके पैरों में बेडी डालकर उसे घर के भोंयरे में छिपा दी ।

उसने अपनें नौकरों को यह भेद नहीं खोलने की कडक सूचना कर दी ।

शाम के समय जब सेठ घर लौटे तब उन्होंने पूछा, 'चंदना कहाँ है ?' परन्तु किसी ने जवाब नहीं दिया । सेठ ने सोचा, 'कहीं खेल रही होगी ?' इस प्रकार तीन दिन बीतने पर भी जब चंदना दिखायी नहीं दी तो सेठ ने उन नौकरों को खूब धमकाया ।

आखिर एक वृद्ध दासी ने सोचा, 'मैं वृद्ध हो चूकी हूँ...मूला मेरा क्या बिगाडेगी ?' इस प्रकार विचार कर मौत की परवाह किए बिना उसने सेठ को सारी बात बतला दी ।

सेठ को अत्यंत आघात लगा । तुरंत ही उन्होंने दरवाजा खुलवाया । उस कमरे में मस्तक मुंडित और भूखी-प्यासी चंदना को देखा । सेठ की आँखों में आंसु आ गए । सेठ उसे उठाकर द्वार पर ले आए । उसके बाद उसकी क्षुधा-तृप्ति के लिए रसोडे में गए । रसोडे में अन्य कोई भोजन-सामग्री नहीं थी, अतः सुपडे में ही उडद के बाकुले लाकर दिए और कहने लगे, 'मैं अभी जाकर लुहार को बुलाता हूँ, तब तक तूं ये बाकुले खाकर अपनी क्षुधा शांत करना ।' इतना कहकर सेठ चले गए ।

पृथ्वीतल को पावन करते हुए महावीर प्रभु कष्टों को सहन करते हुए कर्मों की अपूर्व निर्जरा कर रहे थे ।

एक बार पोष वदी १ के शुभ दिन परमात्मा ने एक भीष्म अभिग्रह धारण किया-

'पैरों में लोहे की सांकल हो, मस्तक मुंडा हो, शोक के भार से रोती हो, स्वयं राजकन्या हो, तीन दिन की भूखी हो, एक पैर घर के अंदर और दूसरा पैर घर से बाहर हो, भिक्षा का समय बीत चूका हो, ऐसे समय सूपडे में रहे उडद के बाकुले से भिक्षा प्रदान करें तो मैं उसे ग्रहण करुंगा ।'

इस प्रकार के भीष्म अभिग्रह को धारण कर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते, परन्तु अभिग्रह नहीं फलने से वापस लौटकर उपवास कर लेते ।

दिन पर दिन बीतने लगे ।

कुल ५ महिनें और २५ दिन बीत गए । चंदनबाला द्वार पर बैठी हुई थी । उस

समय उसके मन में विचार आया कि यदि कोई अतिथि पधारे तो उनको दान देकर फिर मैं पारणा करूं ।' इस प्रकार विचार कर द्वार के सामने देखा और उसी समय महावीर प्रभु को आते हुए देखा ।

'ओहो ! प्रभु का कैसा अदभुत रुप-लावण्य और उन्हें भिक्षा में देने के लिए कैसे तुच्छ उडद के बाकुले ! ये तो महामुनि को देने के लिए अयुक्त हैं,' इस प्रकार विचार करने पर उसकी आंखों में आंसु आ गए ।

उसने कहा, **'प्रभो ! यद्यपि यह अयोग्य हैं फिर भी मुझ पर अनुग्रह कर इन बाकुले को स्वीकार करो ।'**

...उस समय प्रभु ने अपनें अभिग्रह की समस्त शर्तों को पूर्ण देखकर चंदनबाला के हाथों से भिक्षा ग्रहण की । उसी समय आकाश में देवदुंदुभि का नाद हुआ । सुगंधी पुष्प व जल की वृष्टि हुई । साढे बारह करोड सोना मोहर की वृष्टि हुई और आकाश में **'अहो दानं, अहो दानं'** की घोषणा हुई ।

...प्रभु के पारणे के वृत्तांत को जानकर शतानिक राजा वहाँ पर उपस्थित हुआ ।

दैविक प्रभाव से चंदनबाला की लोहे की सभी बेडियाँ टूट गई और केशपाश पूर्ववत् हो गया । उसका समस्त देह अलंकारों से विभूषित हो गया ।

अपनें अभिग्रह का पारणा कर प्रभु अन्यत्र विहार कर गए ।

★ भगवान महावीर परमात्मा को जब केवलज्ञान हुआ तब यही चंदनबाला भगवान महावीर परमात्मा द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ में पहली **'साध्वी'** बनी ।

संयम धर्म की निर्मल आराधना कर चंदनबाला साध्वी ने केवलज्ञान प्राप्त किया और वे मोक्ष में गई ।

अवशिष्ट जानकारियाँ

भगवान महावीर प्रभु का सांसारिक परिवार

माता	त्रिशला
पिता	सिद्धार्थ
ज्येष्ठबंधु	नंदिवर्धन
भाभी	ज्येष्ठा
बहिन	सुदर्शना
पत्नी	यशोदा
पुत्री	प्रियदर्शना
दामाद	जमालि
दोहित्री	शेषवती

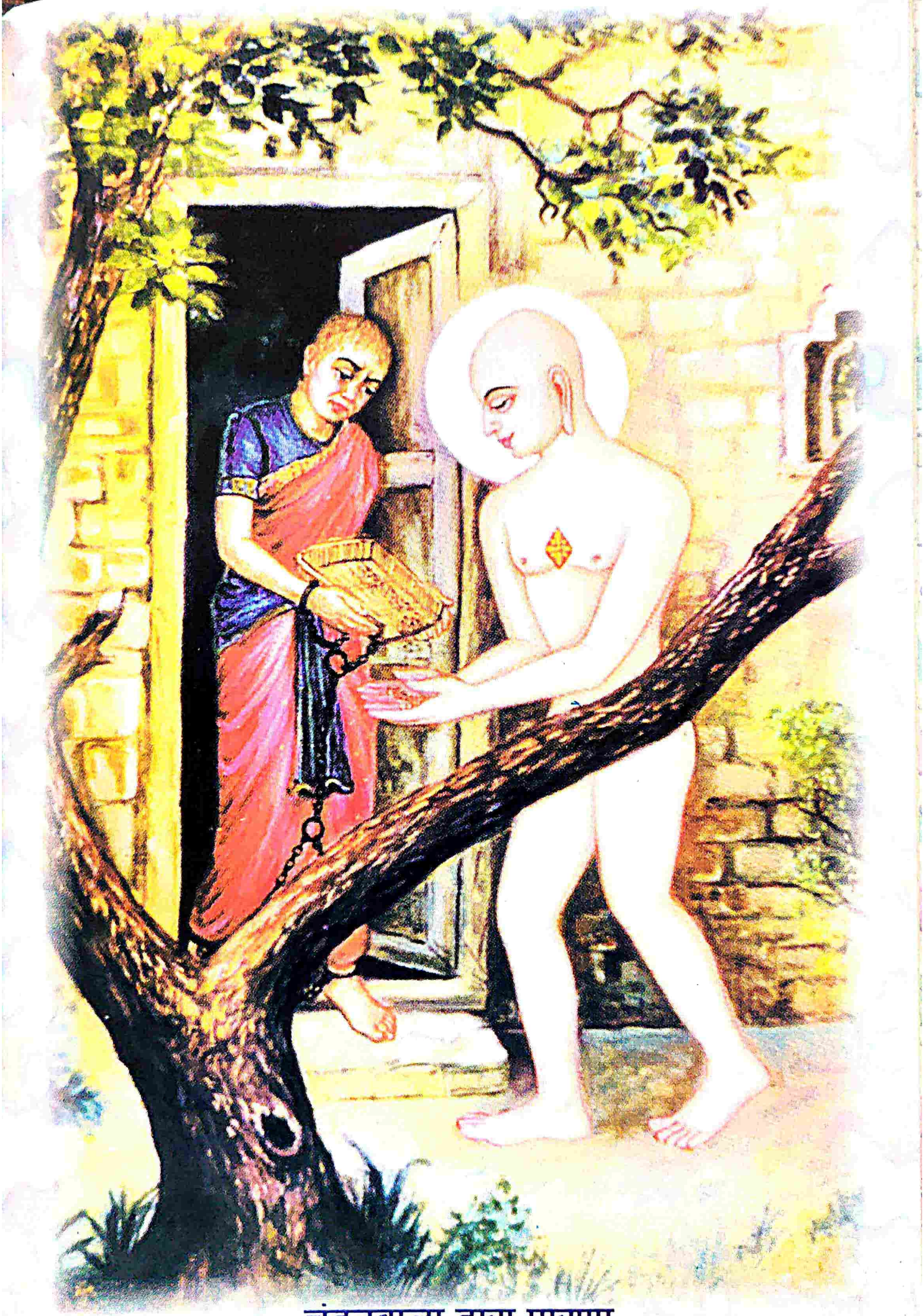

चंदनबाला द्वारा पारणा

२६. शीत-उपसर्ग

माघ मास का समय था ।

वीर प्रभु शाली शीर्षक गांव के बाहर ध्यान मग्न थे ।

उस समय कटपूतना नाम की वाणव्यंतरी देवी, जो त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में प्रभु की विजयवती नाम की रानी थी । परन्तु उसे बराबरा मान-सन्मान नहीं मिलने के कारण प्रभु के प्रति द्वेष भाव धारण किए हुए थी । वह रानी अनेक भवों में भटककर वाणव्यंतरी देवी बनी ।

अपनें पूर्व भव के वैरभाव को याद कर उसने प्रभु के ऊपर भयंकर शीत उपसर्ग करने का निश्चय किया । उसने तापसी का रुप लिया । आकाश में रहकर अपनी विशाल जटाओं से प्रभु के शरीर पर हिमकण की वर्षा करने लगी ।

एक ओर माघ मास की कडकडाहट की ठंडी और दूसरी ओर भयंकर शीत वर्षा ।

भयंकर उपसर्ग में भी प्रभु तो मेरु की भांति निश्चल खडे रहे ।

आखिर परास्त होकर उस व्यंतरी ने प्रभु से क्षमा याचना की ।

इस प्रकार छट्ठ के तप के साथ भयंकर शीत उपसर्ग को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन करने के फल स्वरुप प्रभु को लोकावधिज्ञान उत्पन्न हुआ ।

भगवान महावीर के चातुर्मास स्थल

१. अस्थिक
२. नालंदा
३. चंपा
४. पृष्ठचंपा
५. भद्रिका
६. भद्रिका
७. आलंभिका
८. राजगृह
९. प्रणीत भूमि (अनार्य)
१०. श्रावस्ती
११. वैशाली
१२. चंपा
१३. राजगृह
१४. वैशाली
१५. वाणिज्यग्राम
१६. राजगृह
१७. वाणिज्यग्राम
१८. राजगृह
१९. राजगृह
२०. वैशाली
२१. वाणिज्यग्राम
२२. राजगृह
२३ वाणिज्यग्राम
२४ राजगृह
२५ मिथिला
२६ मिथिला
२७ मिथिला
२८ वाणिज्यग्राम
२९ वैशाली
३० वाणिज्यग्राम
३१ वैशाली
३२ वैशाली
३३ राजगृह
३४ नालंदा
३५ वैशाली
३६ मिथिला
३७ राजगृह
३८ नालंदा
३९ मिथिला
४० मिथिला
४१ राजगृही
४२ पावा (पावापुरी)

शीत उपसर्ग

२७. चंडकोशिक प्रतिबोध

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए महावीर प्रभु दक्षिण प्रदेश में पधारें । उन्हें श्वेतांबी नगरी की ओर विहार करते हुए देख एक ग्वाले ने कहा, **'हे देवार्य ! आप जिस मार्ग से श्वेतांबी नगरी की ओर जा रहे हैं, वह मार्ग सीधा और सरल है, परन्तु उस मार्ग के बीच में एक कनकखल नामक तापस का आश्रम है, जहां एक प्रचंड दृष्टिविष सर्प है, जिसकी वजह से सम्पूर्ण मार्ग जीव मात्र से शून्य बना हुआ है अतः आप इस मार्ग का त्याग कर दूसरे मार्ग से प्रयाण करें ।'**

करुणावतार भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान बल से देखा, 'इस वन में जो दृष्टिविष सर्प है, वह अपने पूर्व भव में एक तपस्वी साधु था । एक बार वह तपस्वी साधु गोचरी के लिए गया । मार्ग में चलते हुए अनुपयोग से उसके पैर के नीचे एक मेंढकी दब गई !

संध्याकालीन प्रतिक्रमण करते हुए जब तपस्वी मुनि अपने द्वारा किए गये पाप की आलोचना किये बिना ही बैठ गए, तो क्षुल्लक मुनि ने तपस्वी साधु को अपनी भूल याद दिलाई ।

परन्तु तपस्वी मुनि अपनी भूल को स्वीकार करने के बजाय गुस्से में आ गए और क्षुल्लक मुनि को मारने के लिए दौड़ पड़े । रात्रि के अंधकार में स्तम्भ से टकराए और मरकर ज्योतिष देवलोक में उत्पन्न हुए । तत्पश्चात् देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर वे कनकखल आश्रम के कौशिक गौत्रीय तापसों के कुलपति के घर पुत्र रुप में उत्पन्न हुए । ये सभी तापस कौशिक गोत्रीय थे, परन्तु प्रचण्ड क्रोध के कारण उसका नाम **चंडकौशिक** पड़ा ।

अपने पिता की मृत्यु के बाद चंडकौशिक कुलपति बना । एक बार चंडकौशिक तापस किसी कार्य के लिए बाहर गया हुआ था, तब श्वेतांबी के राजकुमार आदि ने आकर उसके वन खंड को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

मार्ग में आते हुए किसी गोपाल ने चंडकौशिक को समाचार दिए । समाचार सुनते ही क्रोध से चंडकौशिक तापस राजकुमारों को मारने के लिए हाथ में कुल्हाड़ा लेकर दौड़ा । चंडकौशिक तापस को देखते ही राजकुमार भाग गये, परन्तु यह तापस मार्ग में एक गहरे खड्डे में गिर पड़ा । तीक्ष्ण कुल्हाड़े से उसके मस्तक के दो टुकड़े हो गये ।

भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान चक्षु से देखा कि वहीं चंडकौशिक तापस मरकर प्रचंड दृष्टिविष सर्प बना है ।

दृष्टिविष सर्प को बोध देने के लिए भगवान् महावीर उसी मार्ग से चल पड़े । कनकखल आश्रम के पास आकर प्रतिमा में ध्यानस्थ हो गये । थोड़े ही समय बाद चंडकौशिक सर्प अपने बिल से बाहर आया । भगवान् को ध्यानस्थ देखकर सोचने लगा, **'यह कौन है, जो निष्प्रकम्प स्तम्भ की भांति खड़ा है ? मैं उसे अभी भस्म करता हूं ।'** इस प्रकार विचार कर उसने प्रचंड क्रोध से अपनी दृष्टि भगवान् के ऊपर फेंकी । अपनी दृष्टि को निष्फल देख, चंडकौशिक सर्प ने भगवान् के पैर में दंश दिया । दंश देने पर भी जब उसने भगवान् को स्थिर देखा और दंश के स्थान पर लाल रक्त के बजाय गोक्षीर धारा के समान धवल रक्त धारा देखी, तो वह भगवान् के मुख को आश्चर्य से देखने लगा ।

सर्प को उपशांत देखकर करुणावंत भगवान् महावीर ने कहा, **'बुज्झ, बुज्झ, चंडकौसिया'** । इन तीन शब्दों ने सर्प के मन में भारी उत्क्रांति मचा दी । उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया । भगवान् को तीन प्रदक्षिणा कर वह स्वकृत घोर पापों का पश्चात्ताप करने लगा ।

अपने बिल में मुख डालकर चंडकौशिक सर्प समतामृत में निमग्न हो गया ।

मार्गगामी नगरजनों ने सर्प को शांत देखकर सर्वप्रथम पत्थर, लकड़ी आदि से उस पर अनेक प्रहार किये और अंत में प्रशांत देखकर ग्वालों ने उसके देह पर दूध तथा घी का छंटकाव किया । दूध और घी की सुगंध से अनेक चींटियाँ आने लगीं और सर्प को दंश देने लगी ।

दंश की तीव्र पीड़ा में भी चंडकौशिक ने सोचा, 'ये चींटियाँ मुझे सामान्य कष्ट दे रही हैं, जबकि मैंने तो अनेक जीवों के प्राण ले लिये थे । इस प्रकार समाधिमग्न सर्प पन्द्रह दिन के बाद मरकर **आठवें देवलोक** में देव बना । करुणावतार भगवान् महावीर भी उस सर्प की अंतिम आराधना करवाने के लिए पन्द्रह दिन तक वहीं ध्यानस्थ खड़े रहे ।'

भगवान महावीर का तप

तप	कितनी बार
६ मास का तप	१ बार
५ मास २५ दिन	१ बार
४ मास	९ बार
३ मास	२ बार
२.५ मास	२ बार
२ मास	६ बार
१.५ मास	२ बार
१ मास	१२ बार
१५ दिन	७२ बार
१० दिन	१ बार (सर्वतो भद्र प्रतिमा)
४ दिन	१ बार (महाभद्र प्रतिमा)
३ दिन	१२ बार
२ दिन	१ बार (भद्र प्रतिमा)
२ दिन	२२९ बार
कुल उपवास	४१६६ दिन
कुल पारणे दिन	३४९

चंडकोशिक प्रतिबोध

२८. ग्वाले का उपसर्ग

महावीर प्रभु षण्मनि गांव के बाहर पधारें और प्रतिमा में स्थिर हो गए ।

त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में, जिस शय्यापालक के कान में गर्म-गर्म सीसे का रस डाला था, वह शय्यापालक मरकर अनेक भवों में भटककर उस गांव में ग्वाले के रुप में पैदा हुआ ।

वह ग्वाला अपनें बैलों को लेकर प्रभु के पास आया और बोला, **'मैं गायों को दोहकर वापस आता हूँ, आप इन बैलों का ध्यान रखना ।'** इतना कहकर वह ग्वाला नगर में चला गया । इधर बंधन रहित वे बैल चरते हुए जंगल में पहुँच गए ।

थोडी देर बाद वह ग्वाला वापस आया । उसने प्रभु को अपनें बैलों के बार में पूछा । बारबार पूछने पर भी जब प्रभु ने कुछ भी जवाब नहीं दिया, तब अत्यंत ही गुस्से में आकर बोला, `तुम यदि बहरे हो तो इन कर्ण-छिद्रों को धारण करने की क्या आवश्यकता है ?' इतना करकर उसने प्रभु के दोनों कानों में खिल्ले ठोक दिए ।

प्रभु ने यह भयंकर उपसर्ग समतापूर्वक सहन किया ।

उसके बाद विहार करते हुए प्रभु मध्यम अपापा में पधारे और वहाँ भिक्षा के लिए सिद्धार्थ वणिक् के घर पधारे ।

खरक वैद्य ने भिक्षा के लिए आए स्वामी को शल्ययुक्त देखा । उसके बाद वह सिद्धार्थ वणिक् उस वैद्य को लेकर उद्यान में आया । उस वैद्य ने अत्यंत ही युक्ति पूर्वक सांडसों से खींच कर उन दोनों कीलों को बाहर निकाला । प्रभु के कान में से खून बहने लगा । कान में से कीले बाहर निकालते समय प्रभु को अत्यंत ही भयंकर वेदना उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरुप उनके मुंह से भी एक भयंकर चीख निकल पड़ी ।

उसके बाद संरोहिणी औषधि से कान की पीडा को दूर कर प्रभु को प्रणाम कर वह वैद्य व वणिक् अपनें घर चले गए ।

प्रभु की वेदना में निमित्त बनने पर भी भक्ति के भाव के कारण वह वणिक व वैद्य मरकर स्वर्ग में गए और वह शय्यापालक मरकर सातवीं नरक में गया ।

★ भगवान महावीर की आत्मा ने त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में गर्म-गर्म सीसे का रस उंडेलकर जो कर्म बांधा था, वह कर्म अंतिम भव में उदय में आया । बंधे हुए कर्म की सजा जीवात्मा को भुगतनी ही पडती है, अतः कर्म बांधते समय खूब सावधान रहना चाहिये ।

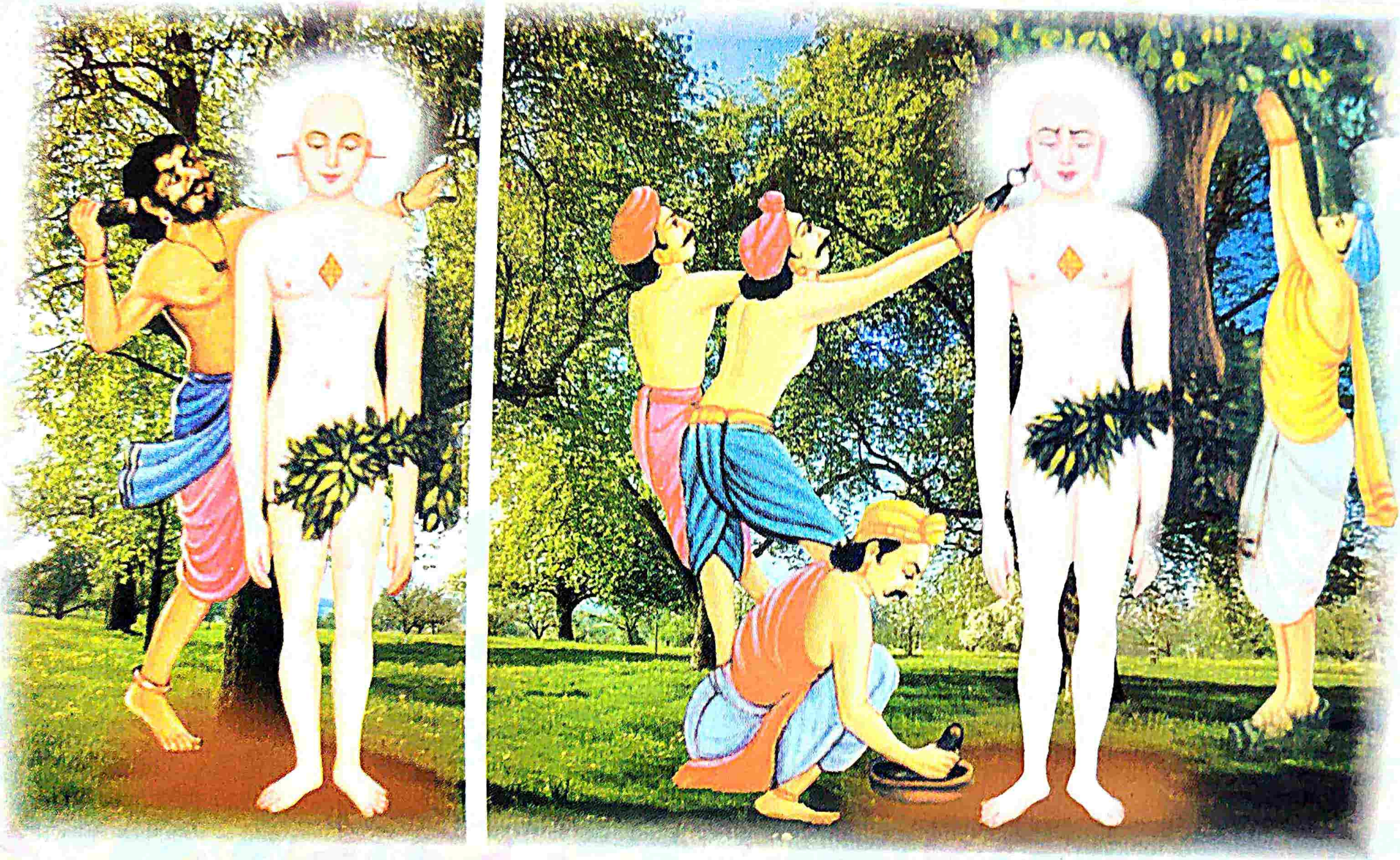

ग्वाले का उपसर्ग

२९. केवल ज्ञान

गोवाल, संगमदेव, कटपूतना राक्षसी और चंडकोशिक आदि के घोरातिघोर मरणांत उपसर्गों को अत्यंत ही समतापूर्वक सहन कर महावीर प्रभु कर्मों की अपूर्व निर्जरा कर रहे थे ।

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रमण भगवान महावीर परमात्मा **जृंभक गांव** के बाहर **ऋजुवालिका** नदी के तट पर पधारें । वहां **शामाक** नाम के गृहस्थ का खेत था । वहां शालवृक्ष के नीचे वीर प्रभु **छट्ठ के तप** के साथ **उत्कटिक आसन** (गोदोहासन) में रहकर आतापना लेने लगे ।

वैशाख सुदी १० के शुभ दिन में विजय मुहूर्त में शुक्ल ध्यान में रहते हुए महावीर प्रभु क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ हुए ।...उस शुक्ल ध्यान और क्षपक श्रेणी के द्वारा महावीर प्रभु ने आत्मा पर लगे हुए घाती कर्मों के गाढ़ बंधनों को तोड़ डाला...और तत्क्षण प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ।

मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षय होने के कारण प्रभु वीतराग बनें और ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने के कारण प्रभु सर्वज्ञ बनें ।

भगवान महावीर को जैसे ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, उसी समय इन्द्रों का आसन कंपित हुआ ।

आसन-कंपन के साथ ही इन्द्रों ने अपने अवधि ज्ञान का उपयोग लगाया और उस उपयोग द्वारा महावीर प्रभु के केवलज्ञान की उत्पत्ति को प्रत्यक्ष जानकर कुछ ही क्षणों में अपने विशाल परिवार के साथ सभी इन्द्र वहां उपस्थित हो गए ।

प्रभु को उत्पन्न केवलज्ञान से हर्ष विभोर बने हुए चारों निकाय के देवता भक्ति से नाच-गान करने लगे ।

देवताओं ने रत्न, स्वर्ण व रजतमय तीन गढ़ों से युक्त समवसरण की रचना की । प्रभु ने उस समवसरण में प्रवेश किया । प्रभु जानते थे कि इस पर्षदा में 'सर्वविरति धर्म' को अंगीकार करने के लिए कोई योग्य नहीं है, फिर भी अपने कल्प के अनुसार क्षण-भर देशना दी ।

यद्यपि तीर्थंकर परमात्मा की देशना कभी निष्फल नहीं जाती है और जिस दिन प्रभु को केवलज्ञान होता है, उसी दिन वे परमात्मा शासन की स्थापना करते है, परन्तु महावीर प्रभु की प्रथम देशना के समय सर्वविरति धर्म को अंगीकार करने वाली योग्य आत्मा नहीं होने से महावीर प्रभु उसी दिन शासन की स्थापना नहीं कर सकें । इस प्रकार की घटना अनंतकाल में कभी-कभार होने के कारण एक **'आश्चर्य'** कहलाती है ।

थोड़ी देर बाद महावीर प्रभु ने असंख्य देवताओं के साथ अपनी विहार यात्रा आरंभ कर दी । विहार समय मार्ग में देवतागण नौ स्वर्ण कमल की रचना करते और प्रभु उन्हीं कमलों पर पैर रखते हुए आगे बढ़ने लगे ।

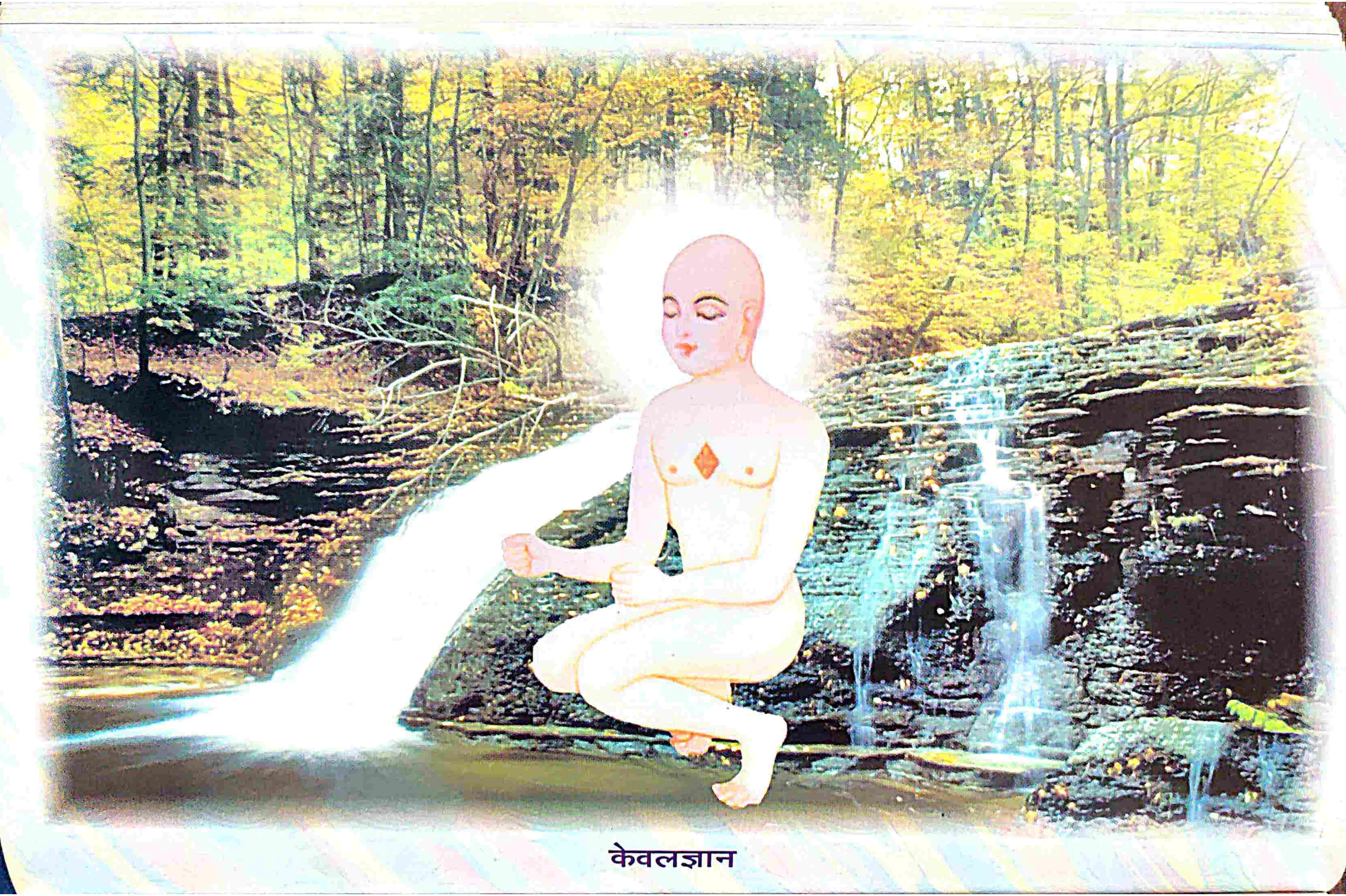

केवलज्ञान

३०. शासन स्थापना

अपने केवलज्ञान के दिव्य प्रकाश में अपापा नगरी में रहे इन्द्रभूति आदि को प्रतिबोध के योग्य जानकर वीर प्रभु ने रात्रि में १२ योजन का विहार किया ।

वीर प्रभु अपापा नगरी के बाहर महसेन उद्यान में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । चौंतीस अतिशयों से सुशोभित महावीर प्रभु ने समवसरण में प्रवेश किया । उसके बाद बत्तीस धनुष ऊँचे चैत्यवृक्ष को तीन प्रदक्षिणा देकर **'नमो तित्थस्स'** कहकर पादपीठ से युक्त सिंहासन पर बैठे । उसी समय भक्ति से युक्त देवताओं ने अन्य तीन दिशाओं में भी प्रभु के अनुरुप प्रतिबिंब की स्थापना की ।

आकाशमार्ग से निरंतर देवताओं के आगमन, देव दुदुंभि के नाद आदि द्वारा जैसे ही नगरवासियों को प्रभु के आगमन के समाचार मिले, सभी लोग अपने समस्त कार्यों को छोड कर परमात्मा की अमृत वाणी का आस्वाद लेने के लिए समवसरण की ओर आगे बढ़ने लगे ।

प्रारंभ में अत्यंत ही भक्ति से रोमांचित देह वाले इन्द्र महाराजा ने परमात्मा की भावपूर्वक स्तुति की । तत्पश्चात् भव्य जीवों के कल्याण के लिए तारक वीतराग परमात्मा ने वैराग्ययुक्त अमृत के समान मधुर धर्म-देशना प्रारंभ की ।

उसी अपापापुरी नगरी में सोमिल नाम का ब्राह्मण रहता था । उसने एक महायज्ञ का आयोजन किया था । यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकाण्ड के लिए उसने इन्द्रभूति आदि ग्यारह मुख्य पण्डितों को आमंत्रण दिया था, जो कुशल मंत्रवेत्ता और यज्ञ-याग की क्रियाओं में अत्यंत निपूण थे ।

अपापापुरी में चारों ओर हलचल मची हुई थी । एक ओर हजारों नरनारी समवसरण की ओर आगे बढ़ रहे थे, तो दूसरी ओर कई लोग सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ-काण्ड को देखने के लिए आतुर बने हुए थे ।

यज्ञ का प्रारंभ हो चूका था । पवित्र जल से देह शुद्धि कर पवित्र वस्त्रों को धारण किए हुए इन्द्रभूति आदि पंडित यज्ञ सम्बन्धी मंत्रों का उच्चारण करने लगे और मंत्र देवताओं का आह्वान करने लगे । अचानक उसी समय इन्द्रभूति ने अपनी नजर आकाश की ओर उठाई और उसके आश्चर्य का पार न रहा । हजारों देवता आकाश-मार्ग से धरती की ओर आगे आ रहे थे । देवताओं के दिव्य-प्रकाश से चारों ओर प्रकाश-प्रकाश फैल चुका था ।

देवताओं के आगमन को देख इन्द्रभूति का मनमयूर नाच उठा । वह मन ही मन सोचने लगा-`अहो ! मेरे द्वारा उच्चारित मंत्रों का कैसा प्रभाव ! देवताओं को भी तत्काल उपस्थित होना पड़ा !'

लोग भी तर्क-वितर्क करने लगे कि यज्ञ के प्रभाव से ही ये सारे देवता यज्ञमंडप की ओर आ रहे हैं ।

परन्तु यह क्या ? कुछ ही क्षणों में वे देवता यज्ञ-मंडप को छोड़कर आगे बढ़ गए ।

इन्द्रभूति के आश्चर्य का पार न रहा । वह सोचने लगा, `यह क्या ? ये देवतागण

इस यज्ञ-मंडप को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जा रहे हैं ? क्या अन्यत्र भी कहीं यज्ञ आदि का आयोजन हुआ हैं ?'

इन्द्रभूति का मुख मलिन हो गया । उसके मुख पर उदासीनता छा गई ।

इन्द्रभूति से रहा नहीं गया । आखिर उसने पूछ ही लिया, 'ये देवता कहाँ जा रहे हैं ?'

किसी ने कहा, 'ये देवता सर्वज्ञ भगवान को वंदन के लिए जा रहे हैं ।'

बस, **'सर्वज्ञ'** शब्द सुनते ही इन्द्रभूति के मन में आग पैदा हो गई । वे सोचने लगे, 'अहो ! मेरे सर्वज्ञ होते हुए वह कौन है, जो अपने आपको सर्वज्ञ के तौर पर प्रख्यात कर रहा है ? यह तो मेरे लिए अत्यंत ही कर्णकटु बात है ।

कदाचित् कोई मूर्ख व्यक्ति किसी धूर्त के द्वारा ठग लिया जाता है, परन्तु उसने तो इन देवताओं को भी ठग लिया ?

अथवा 'चोर-चोर मौसरे भाई' की तरह जैसा वह सर्वज्ञ है, वैसे ही ये देवता लगते हैं ।'

'फिर भी मैं उसके 'सर्वज्ञ' के आडंबर को सहन करने वाला नहीं हूँ ।'

इन्द्रभूति मनोमन संकल्प-विकल्प कर ही रहे थे, तभी कुछ लोग भगवान् को वंदन कर वापस लौटने लगे ।

इन्द्रभूति ने व्यंग में उन लोगों को पूछा, 'अरे ! देखा न उस सर्वज्ञ को, कैसा है वह ?'

इन्द्रभूति के इस प्रश्न का जवाब देते हुए वे लोग कहने लगे-, 'तीनों लोक के सभी लोग उनके गुणों की गणना करने बैठ जाय और उन लोगों का आयुष्य कभी समाप्त होने वाला नहीं हो तथा परार्ध्य से भी ऊपर गणित हो तो भी उनके समस्त गुणों की गणना नहीं हो सकती है ।'

लोक मुख से सर्वज्ञ भगवान महावीर प्रभु की इस गौरव-गरिमा को सुनकर इन्द्रभूति के खेद का पार न रहा ।

वे सोचने लगे, 'अहो ! यह तो महाधूर्त लगता है, माया का कुल मंदिर हैं, जिसने सभी लोगों को भ्रमजाल में फंसा दिया है ।

परन्तु मैं एक क्षण मात्र भी उस ढोंगी सर्वज्ञ के आडम्बर को सहन नहीं कर सकता । क्या अंधकार के समूह को नष्ट करने के लिए सूर्य प्रतीक्षा करता है ? कदापि नहीं ।

अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प कर इन्द्रभूति प्रभु के साथ वाद करने के लिए तैयार हो गए ।

उन्होंने अपने मस्तक पर बारह तिलक किए । स्वर्ण की जनेऊ धारण की । अत्यंत आकर्षक पीत वस्त्र धारण किए । इसके साथ ही इन्द्रभूति के कुछ शिष्य हाथ में पुस्तक कमण्डल व दर्भ आदि धारण कर इन्द्रभूति की बिरुदावली बोलने लगे, 'जय हो पंडित शिरोमणि इन्द्रभूति की ! जय हो सरस्वती कंठाभरण ! पंडित शिरोमणि !' इत्यादि बिरुदावली जोरों से बोली जा रही थी । इन्द्रभूति अपने ५०० शिष्यों के साथ प्रभु महावीर के समवसरण की ओर आगे बढ़ रहे थे ।

बीच मार्ग में भी इन्द्रभूति रोषायमान होकर विचार करने लगे ।

शेषनाग के मस्तक पर रहे मणि को लेने के लिए कोई अपना हाथ फैलाए तो वह व्यक्ति बच नहीं सकता, इसी प्रकार सर्वज्ञता के आडम्बर द्वारा, इसने मुझे कूपित किया है ।'

इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूति समरसरण के निकट पहुंच गए और समसरण की सीढ़ियों पर खड़े रहकर सोचने लगे, 'अहो ! क्या यह ब्रह्मा है ? विष्णु है ? शिव है या शंकर है ?

क्या यह चन्द्र है ? नहीं, चन्द्र तो कलंकित है ।

क्या यह सूर्य है ? नहीं, सूर्य तो तीक्ष्ण किरणों वाला है ।

क्या वह विष्णु है ? नहीं, वह तो श्याम हैं ।

क्या यह ब्रह्मा है ? नहीं, वह तो वृद्ध है । अथवा अब पता चला, ये तो सर्व दोषों से रहित और समस्त गुणों से युक्त अंतिम तीर्थंकर है ।

इन्द्रों के द्वारा पूजित स्वर्ण के सिंहासन पर बैठे हुए जगत् पूज्य श्री वीर प्रभु को देखकर इन्द्रभूति मन में सोचने लगे, 'अहो ! अब मैं अपनी इज्जत कैसे बचा पाऊँगा ? अरे ! एक कीलिका के लिए महल को नष्ट करने की कौन इच्छा करता है ?'

अब मैं इनके सामने कैसे जाऊँ ? इनके आगे क्या बोलूंगा ? अहो ! मैं तो संकट में गिर गया हूं, अब तो शिव ही मेरे यश को बचा सकते हैं ।

अथवा कदाचित् भाग्य-योग से मेरी जीत हो जाए तो मैं त्रिभुवन में **'पंडित मूर्धन्य'** पद पा सकता हूँ ।'

अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्पों से इन्द्रभूति विचार कर रहे थे तभी महावीर प्रभु ने इन्द्रभूति को संबोधित करते हुए कहा, **'हे गौतम गौत्रीय इन्द्रभूति ! तुम कुशलता-पूर्वक आए हो न ?'**

इन्द्रभूति के मन में उछल रहे अभिमान को भगवान् महावीर प्रभु अपने केवलज्ञान के बल से प्रत्यक्ष देख रहे थे, परन्तु प्रभु तो वीतराग थे । इस वीतरागता के कारण अत्यंत रोषायमान इन्द्रभूति पर भी प्रभु ने गुस्सा नहीं किया, बल्कि करुणानिधि परमात्मा ने उन्हें प्रेम और वात्सल्य से नहला दिया ।

इन्द्रभूति ने जब प्रभु के मुख से अपना नाम सुना, तब क्षण भर तो वे स्तब्ध हो गए । 'अहो ! ये तो मेरा नाम भी जानते हैं ?'

दूसरे ही क्षण उनके अन्तर्मन में छिपा हुआ अभिमान पुनः उछलने लगा । वे सोचने लगा, **'मेरा नाम तो तीनों जगत् में प्रसिद्ध हैं, आबाल-गोपाल सभी मेरा नाम जानते हैं, अतः ये मेरा नाम जानें, इसमें क्या आश्चर्य है ?'**

हाँ ! 'मेरे मन में छीपे संदेह को बतला दे तो मैं मानूं कि ये सर्वज्ञ हैं ।'

इन्द्रभूति अपने मन में इस प्रकार विचार कर रहे थे, तभी महावीर प्रभु ने कहा, 'हे इन्द्रभूति ! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के बारे में संदेह रहा हुआ है और इसका एकमात्र कारण तुम वेद की पंक्तियों का सही अर्थ नहीं कर रहे हो ।'

प्रभु ने जैसे ही यह बात कही, इन्द्रभूति के अहंकार पर जोरदार चोट लगी ।

जीव हैं या नहीं ? इस विषय में इन्द्रभूति के मन में गहरी शंका थी । अनेक

धर्मशास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन करने पर भी जीव के अस्तित्व के विषय में उन्हें पूर्ण समाधान नहीं मिल पा रहा था ।

आज तक जिस शंका को इन्द्रभूति ने अपने मन के भीतरी गर्भगृह में छिपाए रखा था, वीर प्रभु ने उसे सामने से ही प्रगट कर दिया ।

इन्द्रभूति ने कहा, 'हाँ प्रभो ! मेरे अन्तर्मन में रही इस शंका का अभी तक समाधान नहीं हो पाया है, आप उस शंका का निराकरण करने का अनुग्रह करें ।'

प्रभु ने कहा,

'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्ति ।'

इस वेद पंक्ति का तुम गलत अर्थ कर रहे हो ।

तुम इस वेद पंक्ति का यह अर्थ कर रहे हो कि विज्ञान घन अर्थात् गमनागमन की चेष्टा करने वाली आत्मा, पांच महाभूतों के नष्ट होने के साथ ही वह आत्मा नष्ट हो जाती है । आत्मा ही जब नष्ट हो जाती है तो आत्मा के परलोक गमन का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता । जिस प्रकार दीपक के प्रज्ज्वलित होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है और दीपक के बुझते ही प्रकाश नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पांच महाभूतों के संयोग से जीव उत्पन्न होता है और उनके विघटन से जीव नष्ट हो जाता है, अतः पांच महाभूतों को छोड़कर जीव का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है ।'

इसी प्रकार वेद में यह भी कहा गया है कि **'स वै अयं आत्मा ज्ञानमय'** इत्यादि ।

इस प्रकार वेद के इन दो वाक्यों में तुम्हें अपनी अल्पज्ञता के कारण विरोधाभास प्रतीत हो रहा है और इसी कारण तुम्हारें मन में आत्मा के अस्तित्व के विषय में गहरी शंका है ।'

परन्तु हे इन्द्रभूति गौतम ! तुम्हारी यह शंका निरर्थक है, क्योंकि पहली वेद पंक्ति का वास्तविक अर्थ इस प्रकार है-

विज्ञान का अर्थ है ज्ञान और दर्शन, जीव ज्ञान और दर्शन के उपयोग से अभिन्न है अर्थात् वह जीव ज्ञानमय और दर्शनमय है । अतः विज्ञानघन का अर्थ जीव ही होता है । उस जीव को घटादि भूतों के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न होता है और वही ज्ञान, ज्ञेय पदार्थ के चले जाने पर नष्ट हो जाता है **'न प्रेत्य संज्ञा अस्ति'** अर्थात् पूर्व में जो ज्ञान संज्ञा थी, वह अब नहीं रही । घट के दर्शन से जो ज्ञान हुआ, वह घट में रहा, पट में नहीं । जीव का घट के विषय में जो ज्ञान-दर्शन उपयोग होता है, वह घट में ही होता हैं, पट में नहीं ।

हे इन्द्रभूति ! आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है ।'

इन्द्रभूति ने कहा, 'क्या अमूर्त और परोक्ष आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है ?' इन्द्रभूति की जिज्ञासा प्रबल हो उठी ।

प्रभु ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा, 'जीव है या नहीं ? यह जो संशय है, वह तुम्हारी विज्ञान चेतना का ही एक रुप हैं । विज्ञान आत्मा का स्वरुप है । संशय रुप विज्ञान का तुम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो और यही आत्मा का अनुभव है अतः कह सकते हैं कि तुम आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो ।

जिस प्रकार शरीर के सुख-दुःख का हमें संवेदन होता है, उसके लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार विज्ञान रुप आत्मा का संशय के रुप में तुम प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो ।

'मैं हूं या नहीं ?' युक्तिपूर्वक सोचोगे तो **'अहं प्रत्यय'** से तुम अपनी आत्मा का ही प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हो ।

इन्द्रभूति ने पूछा, 'क्या **'अहं प्रत्यय'** की अनुभूति देह में नहीं हो सकती है ?'

प्रभु ने कहा, 'नहीं गौतम ! अहं शब्द से यदि देह का बोध माना जाए तो यह प्रतीति मृत शरीर में भी होनी चाहिए । परन्तु मृत देह में इस प्रकार की अनुभूति नहीं होती है । अतः 'अहं' प्रत्यय का विषय देह नहीं, किन्तु देही-आत्मा ही है ।'

इन्द्रभूति- ने पूछा, 'क्या ज्ञान देह का गुण नहीं हो सकता ।'

प्रभु ने कहा-'नहीं ! गौतम ! देह जड़ है, जबकि ज्ञान अमूर्त और बोध रुप है । जड़ गुणी में चेतन गुण नहीं रह सकता । शरीर और आत्मा के लक्षण सर्वथा भिन्न हैं । शरीर जड़ है, मूर्त है, इन्द्रियों से ग्राह्य है, जबकि चेतन अमूर्त और इन्द्रियों से अग्राह्य है । उसी प्रकार ज्ञान भी अमूर्त है अतः इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, किन्तु आत्म संवेद्य है ।

ज्ञान रुप गुण का कोई आधार होना चाहिए, और वह आधार आत्मा ही है, अतः आत्मा ज्ञानमय है ।

भगवान् महावीर के मुखारविंद से आत्मा के अस्तित्व आदि के सम्बन्ध में विस्तृत प्रामाणिक जानकारी मिलने के साथ ही इन्द्रभूति के मन में रहा जीव के अस्तित्व विषयक संदेह दूर हो गया ।

'प्रभो ! आपकी अमृत-सी मधुर वाणी ने मेरे अन्तर्मन में छीपे संशयों को निर्मूल कर दिया है । मेरे मन के सभी संशय दूर हो चुके हैं-मुझे आपकी वीतरागता और सर्वज्ञता पर पूर्ण श्रद्धा है । अब मैं आपके ही मार्ग पर गमन करने के लिए समुत्सुक बना हूं । प्रभो ! भागवती दीक्षा प्रदान कर मुझे कृतार्थ करें ।'

इन्द्रभूति की इस प्रार्थना को सुनकर भगवान महावीर प्रभु ने उन्हें भागवती दीक्षा प्रदान की ।

प्रभु के चरणों में इन्द्रभूति का समर्पण कोई अद्‌भुत कोटि का था, वे जितने अभिमान के शिखर पर पहुंचे हुए थे, उतने ही वे नम्र बन गए ।

इन्द्रभूति को प्रव्रजित सुनकर अग्निभूति, वायुभूति आदि दस पंडित भी क्रमशः आए । प्रभु ने उनके मन के भीतर रही शंकाओं का भी समाधान किया और एक ही साथ ११ मुख पंडित एवं उनके ४४०० शिष्यों को भागवती दीक्षा प्रदान की ।

प्रभु ने ग्यारह मुख्य शिष्यों को त्रिपदी प्रदान की । उस त्रिपदी का श्रवण कर बीज बुद्धि के निधान उन मुख्य शिष्यों ने द्वादशांगी की रचना की । प्रभु ने उनको गणधर पद पर स्थापित किया ।

इन्द्रभूति गौतम स्वामी के नाम से प्रख्यात हुए । भगवान महावीर के १४००० शिष्यों में गौतम स्वामी सर्व प्रथम शिष्य बनें । ११ गणधरों में आद्य-गणधर बनें ।

शासन स्थापना

३१. गोशाले का उपसर्ग

इस अवसर्पिणी काल में हुए दस आश्चर्यों में से यह भी एक आश्चर्य था कि केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद महावीर प्रभु पर गोशाले के द्वारा भयंकर उपसर्ग हुआ ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद पृथ्वीतल को पावन करते हुए श्रमण भगवान महावीर परमात्मा श्रावस्ती नगरी में पधारे । देवताओं ने आकर समवसरण की रचना की । समवसरण में बिराजमान होकर भव्य जीवों के कल्याण के लिए प्रभुने धर्म देशना दी ।

उस समय गोशाला भी श्रावस्ती में था । अष्टांग निमित्त का ज्ञाता बना गोशाला अपनें आपको `जिन' **'तीर्थंकर'** के रुप में प्रख्यात करने लगा ।

लोगों में इस बात की हवा फैलने लगी कि श्रावस्ती नगरी में दो `जिन' / `तीर्थंकर' विद्यमान है ।

अज्ञानी व मुग्ध लोग गोशाले को भी तीर्थंकर मानकर उसकी पूजा-अर्चना करने लगे ।

इधर छट्ठ के पारणे के निमित्त गौतम स्वामी भगवंत ने भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश किया, तब उन्होंने भी गोशाले की सर्वज्ञता संबंधी बाते सुनी । इस बात को सुनकर गौतमस्वामी को बडा आश्चर्य उत्पन्न हुआ ।

छट्ठ तप के पारणे के बाद लोगों की जानकारी के लिए उन्होंने सभा समक्ष प्रभु को पूछा, `प्रभो ! नगर में कई लोग गोशाले को सर्वज्ञ के रुप में मान रहे हैं तो क्या यह सही हैं ?'

गौतमस्वामी के इस प्रश्न को सुनकर लोगों के निवारण के लिए प्रभु ने कहा, `यह तो मंखलीपुत्र गोशाला है, वह **'जिन'** नहीं होते हुए भी अपने आपको माया और कपट से **'जिन'** के रुप में प्रख्यात कर रहा है । उसने पहले मेरे ही पास दीक्षा व शिक्षा ग्रहण की थी और अब मिथ्यात्व से ग्रसित बना हुआ, अपनें आपको `सर्वज्ञ' बतला रहा है ।'

प्रभु के मुख से इस शंका के समाधान को सुनकर नगर में चारों ओर प्रजाजन भी इस प्रकार की बातचीत करते लगे कि यहाँ पधारे हुए तीर्थंकर महावीर प्रभु कह रहे है कि यह गोशाला तो मंखलीपुत्र हैं और व्यर्थ ही अपनें आपको सर्वज्ञ बतला रहा है ।'

लोगों के मुख से इस बात को सुनकर गोशाला रोषायमान हो गया । छट्ठ के पारणे में भिक्षा के लिए आए हुए आनंद मुनि को संबोधित करते हुए बोला, `अरे आनंद ! तुम्हारा धर्माचार्य लोगों के पास से अत्यधिक आत्मसम्मान चाहता हैं और इस कारण वह सभा के बीच मेरा अपमान कर रहा है । वह मुझे मंखलीपुत्र और असर्वज्ञ बतला रहा है...परन्तु वह मेरे पास रही तेजोलेश्या की शक्ति को नहीं पहिचानता हैं, उसने मुझे परेशान किया तो मैं इस तेजोलेश्या के बल से उसे परिवार सहित जलाकर भस्मीभूत कर दूंगा ।

इतनी सारी ऋद्धि मिलने पर भी तेरे धर्माचार्य को कोई तृप्ति नहीं है और व्यर्थ ही निंदा कर मुझे परेशान कर रहा है । `परन्तु मैं अपने तप के तेज से उसे जलाकर खत्म

कर दूंगा ।'

गोशाले की इस बात को सुनकर अन्य सभी काम छोडकर वह आनंद मुनि प्रभु के पास आया उसने प्रभु को सारी बात बतला दी ।

प्रभु ने कहा, 'हे आनंद ! तूं गौतम आदि मुनियों को कह दे कि गोशाला यहाँ आ रहा हैं, अतः कोई उससे बातचीत न करें ।'

थोडी ही देर में गोशाला वहाँ आ गया और प्रभु को कहने लगा, 'तूं मुझे मंखलीपुत्र और अपना शिष्य आदि क्यों बतला रहा है ? तुम्हारा वह शिष्य गोशाला तो मर गया हैं । मैं उदाय नाम का ऋषि हूँ को परिषह सहने में समर्थ जानकर मैंने उसके शरीर में प्रवेश किया है ।'

गोशाले की इस बात को सुनकर प्रभु ने कहा, 'तूं अपने आपको छिपाने की कोशिश क्यों कर रहा हैं ? आरक्षकों के भय से कोई चोर हाथ में तृण लेकर अपनें आपको छिपाने की कोशिश करे, ऐसी यह तेरी नादान चेष्टा है । तूं झूठ बोलकर अपनें आपको छिपाने की कोशिश क्यों करता हैं ?'

प्रभु के इन वचनों को सुनकर गोशाले का गुस्सा आसमान पर चढ़ गया और वह प्रभु के सामने जैसे-तैसे शब्द बोलने लगा ।

उसी समय प्रभु के अपमान को नहीं सह सकने के कारण **सर्वानुभूति** और **सुनक्षत्र** मुनि बीच में आ गए और गोशाले को कहने लगे, 'प्रभु के पास से ही दीक्षा व शिक्षा प्राप्त कर अब झूठ बोल रहे हो ? तुम स्वयं ही वह गोशाला हो ।'

दोनों मुनियों के इन वचनों से अत्यंत कूपित बने गोशाले ने तेजोलेश्या छोडकर उन दोनों मुनियों को जलाकर भस्मीभूत कर दिया ।

गुरुभक्ति के कारण वे दोनों मुनि मरकर अच्युतकल्प में देव बने ।

इधर गोशाले ने प्रभु के ऊपर तेजोलेश्या फेंकी । लेकिन प्रभु के अतिशय के प्रभाव से प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर वह तेजोलेश्या गोशाले के शरीर में प्रवेश कर गई ।

तेजोलेश्या के भयंकर दाह से गोशाला दुःखी हो गया । प्रभु को भी तेजोलेश्या के ताप के कारण छः मास तक खून की दस्ते लगी ।

इस प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद भी प्रभु के ऊपर गोशाले का यह उपसर्ग हुआ ।

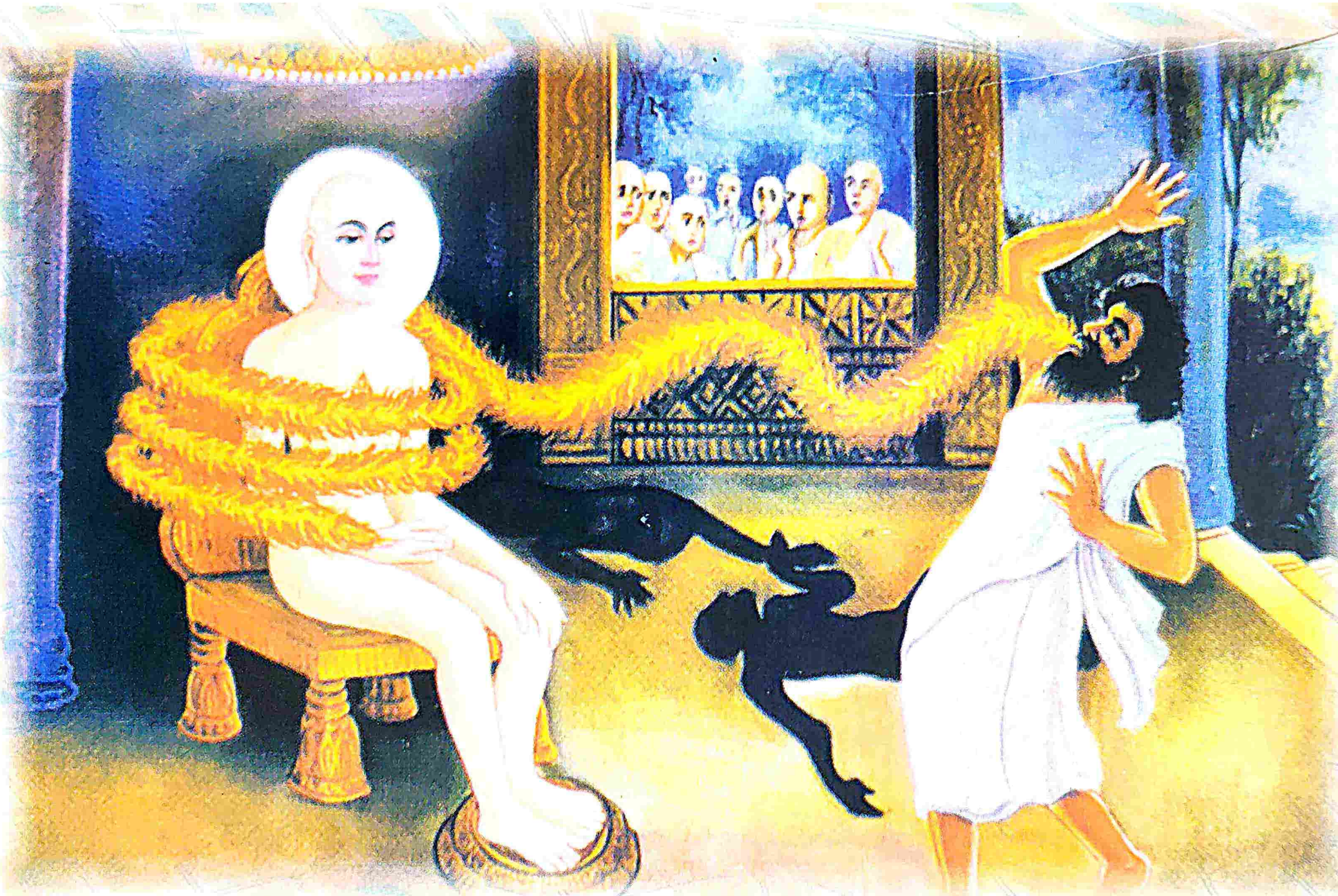

गोशाले का उपसर्ग

३२. महानिर्वाण

अपनें चरण कमलों से पृथ्वीतल को पावन करते हुए और अमृत समान मधुरी धर्म देशना द्वारा भव्य जीवों के पाप-पंक का प्रक्षालन करते हुए महावीर प्रभु चातुर्मास हेतु अपापापूरी नगरी में हस्तीपाल राजा की रज्जुकशाला में पधारें ।

प्रतिदिन प्रथम व अंतिम प्रहर में धर्म देशना प्रदान कर महावीर प्रभु ने अनेक भव्यात्माओं का उद्धार किया ।

प्रभु ने अपनें ज्ञान बल से अपनें निर्वाण का समय देखा । देव द्वारा निर्मित समवसरण में बैठकर वीर प्रभु ने १६ प्रहर अर्थात् ४८ घंटों तक निरंतर धर्मदेशना दी ।

'भरत क्षेत्र में तीर्थंकर परमात्मा का अब वियोग हो जाएगा...अब इन जीवों को धर्मदेशना कौन देगा ?' मानो ऐसा विचार कर करुणानिधान परमात्मा ने सतत ४८ घंटों तक धर्मदेशना देकर मोक्ष मार्ग स्पष्ट कर दिया ।

परमात्मा ने अपनी देशना में संसार की भयंकरता और मोक्ष की उपादेयता का वर्णन करते हुए कहा,

'इस जगत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे जाते है । परन्तु इनमें से अर्थ और काम तो नाम से ही पुरुषार्थ है, परमार्थ से तो वे अनर्थकारी ही है । परमार्थ तो सिर्फ मोक्ष ही है और धर्म उसका कारण है ।

यह धर्म संयम आदि दस प्रकार का बतलाया गया है, आत्मा को इस भव सागर से पार उतारने में पूर्णयतया सक्षम है ।

यह चतुर्गति रुपी संसार अनंत दुःखों से भरा हुआ है । राग-द्वेष से आत्मा कर्मों का बंध करती हैं और उन कर्मों के उदय से आत्मा इस चौदह राजलोक रुप संसार में जहाँ-तहाँ भटकती है ।

इस संसार से विरुद्ध मोक्ष हैं, जो अनंत सुखमय है । इस संसार के बंधन से छूटने और शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करने का एक मात्र उपाय धर्म ही है ।

जिस प्रकार मार्ग में रहा कमजोर व्यक्ति भी धीरें धीरें आगे बढता हुआ अपनें लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाता है और उन्मार्ग में रहा हुआ शक्तिशाली व्यक्ति भी ज्यों ज्यों दौडता जाता है, त्यों त्यों अपनें लक्ष्य स्थल से दूर-सुदूर ही होता जाता हैं, बस, इसी प्रकार जो आत्मा वीतराग प्ररुपित मोक्ष मार्ग का आश्रय करती हैं, वह इस भव में नहीं तो अल्पभवों में ही अवश्य मोक्ष प्राप्त करती है ।'

परमात्मा के द्वारा इस प्रकार की धर्म देशना देने पर पुण्यपाल राजा खडा होकर प्रभु को विज्ञप्ति करते हुए कहने लगा, 'प्रभो ! आज रात्रि में मैंने अत्यंत ही विचित्र आठ स्वप्न देखे है, उन स्वप्नों को देखकर मैं भयभीत हो गया हूँ, अतः इन स्वप्नों का क्या फल विशेष होगा ?'

पुण्यपाल को आए स्वप्न भरतक्षेत्र के भावि जीवों की योग्यता-अयोग्यता को सूचित करने वाले होने से भव्य जीवों के हित के लिए उन स्वप्नों का स्पष्ट फल बतलाया ।

पुण्यपाल राजा को आए आठ स्वप्नों के फलकथन के बाद प्रभु ने छट्ठे आरे का स्वरुप और भावि में होने वाले तीर्थंकर आदि का वर्णन किया ।

उसके बाद गौतम स्वामी भगवन्त ने पांचवें आरे के सम्बन्ध में प्रश्न किए ।

प्रभु ने कहा, `हे गौतम ! मेरे निर्वाण के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास के बाद पांचवें आरे का प्रारंभ होगा ।'

उसके बाद सुधर्मा स्वामी भगवन्त ने प्रश्न किया, `प्रभो ! भरत क्षेत्र में कब और किससे केवल ज्ञान रुपी सूर्य का उच्छेद होगा ?'

प्रभु ने कहा, `मेरे मोक्ष गमन के बाद तुम्हारे शिष्य जंबु इस भरतक्षेत्र में अंतिम केवली होंगे । इसके साथ ही मनः पर्यवज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाकलब्धि, क्षपक श्रेणी, उपशम श्रेणी, आहारक शरीर, जिनकल्प, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथा-ख्यात चारित्र का भी उच्छेद हो जाएगा ।

कार्तिक अमावस्या की रात्रि में अपने निर्वाण को जानकर प्रभु ने अपने ज्ञान से देखा, `अहो ! गौतम के मन में मेरे प्रति जो स्नेह है, वही उसके केवलज्ञान में अंतरायभूत है, अतः उस स्नेह को तुडवाना चाहिए ।' इस प्रकार ज्ञान से देखकर प्रभु ने गौतम को बुलाकर कहा, **`हे गौतम ! पास ही के गांव में देवशर्मा ब्राह्मण रहता है, उसको प्रतिबोध देकर आओ !'**

अत्यन्त ही विनीत गौतम स्वामी ने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य की ।

`प्रभु की आज्ञा मेरे लिए शिरोधार्य है ।' बस, इसी एक विचार को सामने रखकर तत्काल गौतम स्वामी भगवन्त देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए चल पड़े ।

प्रभु का छट्ठ का तप चल रहा था । प्रभु ने पुण्य फल विपाक के ५५ अध्ययन, पाप फल विपाक के ५५ अध्ययन व अपृष्ट व्याकरण के ३६ अध्ययन कहे ।

अपने आसन के कम्पन से प्रभु के निर्वाण समय को निकट जानकर सभी देव-देवेन्द्र अपने परिवार के साथ वहां पर आए ।

शक्रेन्द्र ने हाथ जोड़कर प्रभु को कहा, `प्रभो ! आपका गर्भ, जन्म, दीक्षा व केवलज्ञान उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र में हुआ । इस बार उसमें भस्मक ग्रह संक्रांत होने वाला है । आपके जन्म नक्षत्र में संक्रांत वह भस्मक ग्रह २००० वर्ष तक आपके संतानीय साधु-साध्वी को पीड़ा पहुंचाएगा । अतः आप कुछ समय के लिए अपना आयुष्य बढ़ा दो तो आपकी दृष्टि से संक्रमित उस ग्रह का फल निष्फल हो जाएगा ।'

इन्द्र की इस बात को सुनकर प्रभु ने कहा, `हे शकेन्द्र ! आयुष्य को बढ़ाने में कोई समर्थ नहीं है । आगामी दुषमकाल के प्रभाव से ही तीर्थ को बाधा होने वाली है, उसमें भवितव्यता के अनुसार ही इस भस्मक ग्रह का उदय हुआ है ।'

इस प्रकार शक्रेन्द्र को समझाकर साढ़े छ मास न्युन तीस वर्ष केवली पर्याय का पालन कर, पर्यंकासन में बैठकर बादर काययोग में रहकर प्रभु ने बादर मनयोग व वचनयोग का रोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में रहकर प्रभु ने बादर काययोग का भी रोध कर लिया। उसके बाद वाणी व मन के सूक्ष्म योगों का रोध किया। इस प्रकार सूक्ष्म क्रिया वाले तीसरा शुक्ल ध्यान पूर्ण किया। उसके बाद समुच्छिन्न क्रिया नाम के चौथे शुक्ल ध्यान पर आरुढ़ हुए। उसके बाद पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चार जितने समय में शुक्ल ध्यान के द्वारा सर्व कर्मबंधनों से रहित होकर ऋजु गति के द्वारा एक ही समय में ७ राजलोक पारकर चौदह राज लोक के अग्रभाग पर पहुंच गए।

प्रभु के मोक्ष गमन के समय नरक के जीवों को भी क्षण भर के लिए सुख की प्रतीति हुई।

प्रभु के मोक्ष गमन समय चन्द्र नाम का संवत्सर, नंदिवर्धन नाम का पक्ष व अग्निवेश नाम का दिन तथा **सर्वार्थसिद्ध** नाम का मुहुर्त था।

प्रभु के निर्वाण के बाद अत्यन्त सूक्ष्म कुंथु आदि उत्पन्न हुए। **'अब संयम का पालन दुष्कर होगा'** यह जानकर अनेक साधु-साध्वीजी ने अनशन व्रत स्वीकार किया।

प्रभु के निर्वाण से भाव दीप का विच्छेद जानकर सभी राजाओं ने द्रव्य दीपक प्रगट किए, तभी से लोक में दीपोत्सवी पर्व का आरम्भ हुआ।

उस समय अश्रुपूर्ण नेत्रों से देवताओं ने प्रभु के देह को प्रणाम किया और स्वयं अनाथ की भांति खडे रहे। उसके बाद धैर्य धारण कर शक्रेन्द्र ने देवताओं के पास नंदनवन आदि से चंदन के काष्ठ मंगाए और एक चिता की रचना की। क्षीर सागर के जल से प्रभु के शरीर को स्नान कराया। इन्द्र ने अपने हाथों से प्रभु के देह पर विलेपन किया। फिर दिव्य वस्त्र पहनाकर प्रभु के देह को शिबिका में स्थापित किया। बाद में इन्द्रों ने वह शिबिका उठाई। देवताओं ने जय-जय ध्वनि की और पुष्पों की वृष्टि की। शोकातुर होकर वाद्य-यंत्र बजाए।

उसके बाद इन्द्र ने प्रभु के देह को चिता पर स्थापित किया। अग्निकुमार ने अग्नि प्रज्वलित की और उसे प्रदीप्त करने के लिए वायुकुमार ने वायु फैलाया। थोड़ी ही देर में प्रभु का देह पंचभूत में विलीन हो गया।

उसके बाद मेघकुमार देवों ने क्षीर सागर के जल से चिता शांत की। शक्र व ईशान इन्द्र ने प्रभु की ऊपर की दक्षिण व वाम दाढाएं ली तथा चमरेन्द्र व बलीन्द्र ने नीचे की दाढाएं ग्रहण की। अन्य देवता दांत-अस्थि आदि ले गए। उसके बाद देवताओं ने उस स्थान पर रत्नमय स्तूप बनाया।

वीर-प्रभु का निर्वाण महोत्सव पूर्ण करके इन्द्र आदि नंदीश्वर द्वीप पर गए।

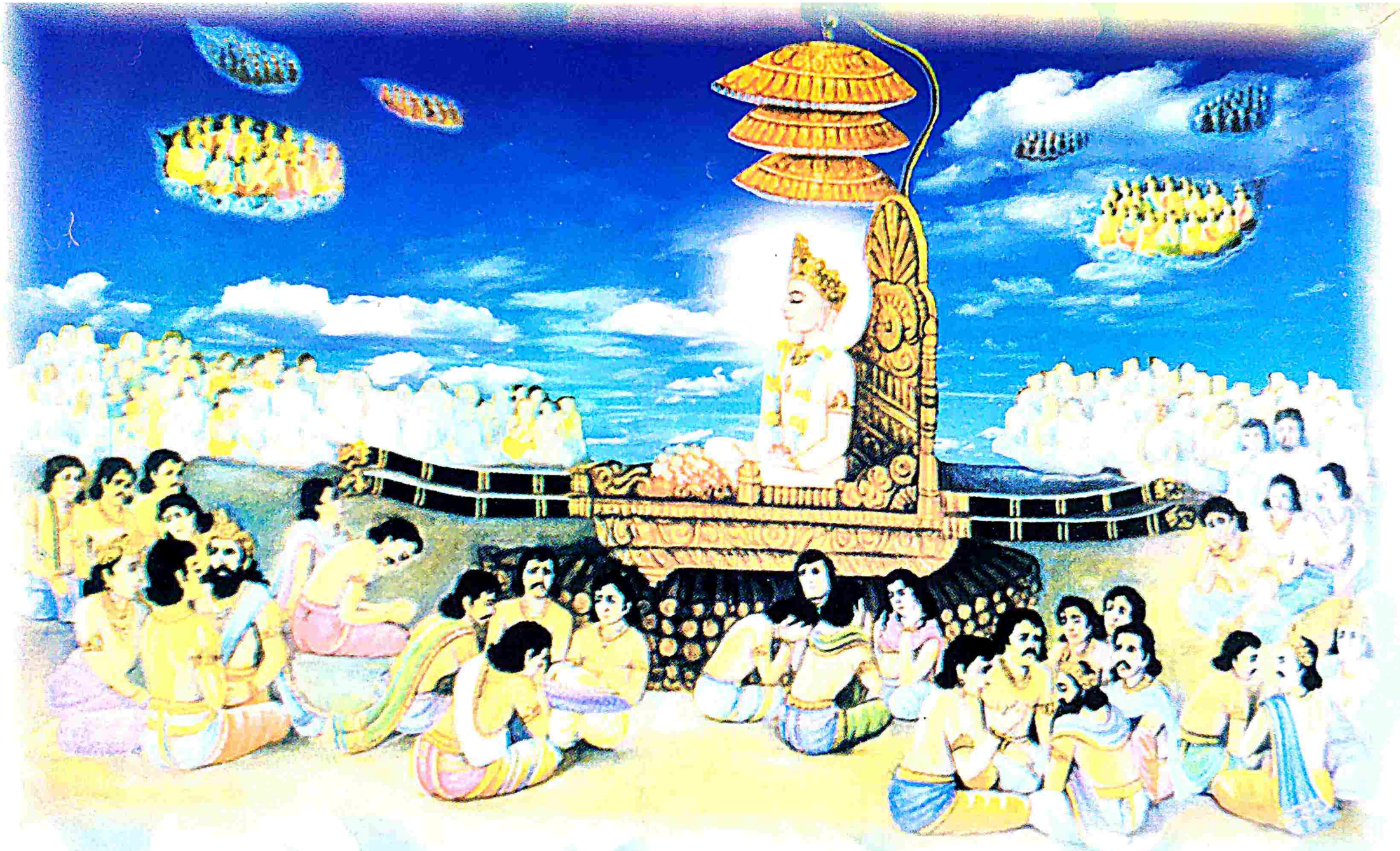

वीर प्रभु का निर्वाण

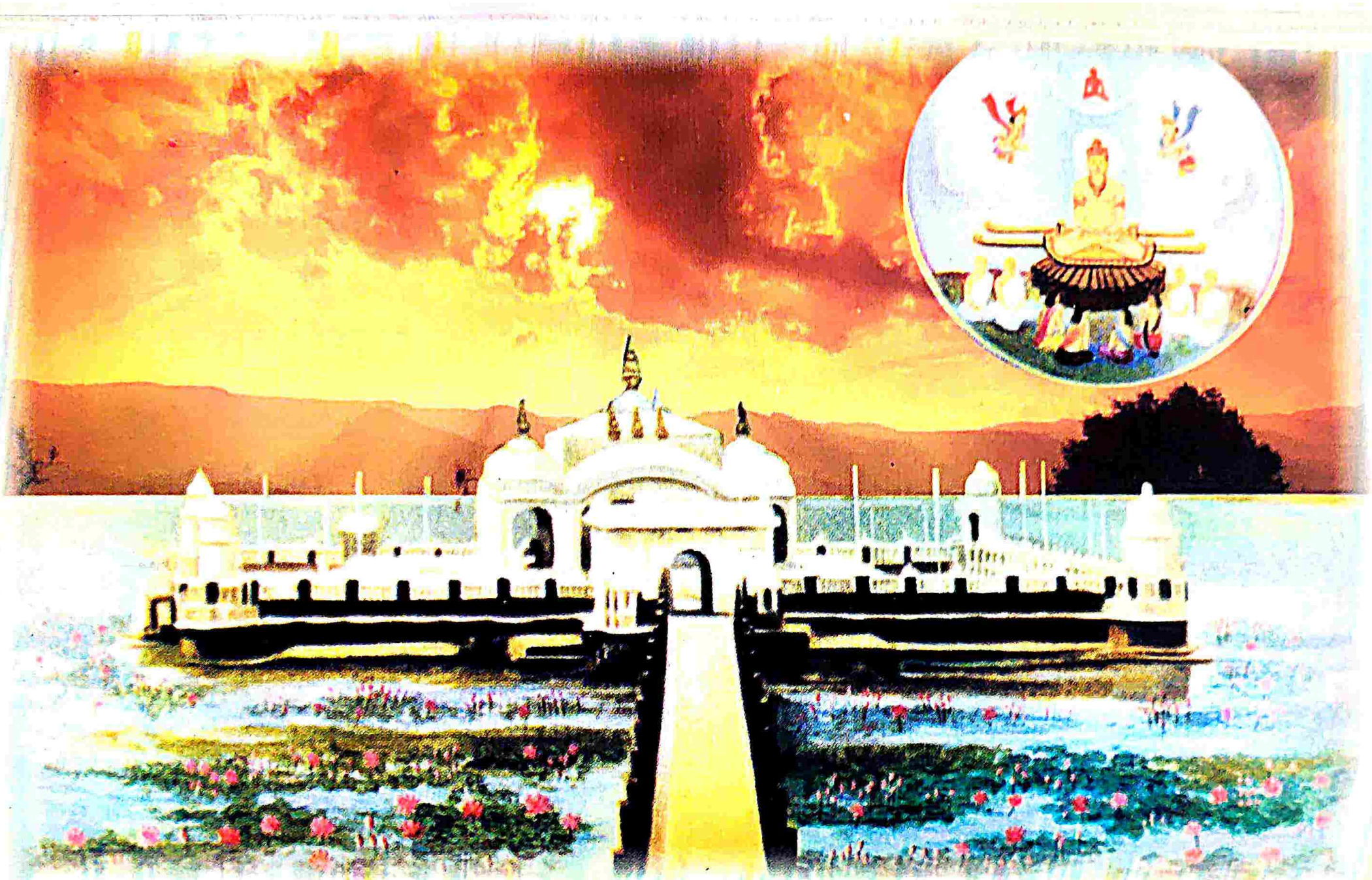

निर्वाण भूमि-पावापुरी तीर्थ

३३. गौतम स्वामी केवलज्ञान

इधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देकर गौतम स्वामी वापस लौटे, तब विषाद-ग्रस्त देवताओं के मुख से उन्हें महावीर प्रभु के निर्वाण के जैसे ही समाचार मिले, वे मोह से विह्वल हो गए । उन्हें वज्राघात सा अनुभव हुआ । वे भगवान् को उलाहना देते हुए पुकारने लगे, हे प्रभो ! आपने यह क्या कर डाला ? निर्वाण समय का तो आपको पता ही था और उसी समय आपने मुझे दूर कर दिया । इतने समय तक मैंने आपकी सेवा की और इस समय आपने मुझे दूर कर दिया ? क्या मेरा स्नेह कृत्रिम था ? क्या मैं आपके लिए भारभूत बन जाता, जिस कारण आपने मुझे अपने निर्वाण के समय दूर कर दिया । क्या मोक्ष में स्थान की कोई कमी थी ? अहो ! अब मैं किसके पास जाऊँगा ? अब मुझे मेरे प्रश्नों का समाधान कौन करेगा ? मुझे हे गौतम !' कहकर कौन बुलाएगा ?'

...इस प्रकार करुण विलाप करने के बाद गौतम स्वामी ने अपने आपको संभाला और वे सोचने लगे, `अहो ! यह मेरा मोह कैसा ? वीतराग के साथ स्नेह कैसा ? भगवान् तो वीतराग थे । उन्हें न तो मेरे प्रति राग था और न ही द्वेष । मैं व्यर्थ ही उनके राग में फंस गया और वे तो मुक्त हो गए ।

इस प्रकार वीर ! वीर ! का विचार करते करते प्रभु के वीतराग स्वरुप में खो गए और उसी समय उनकी अन्तश्चेतना जागृत हो उठी । पश्चाताप और आत्मनिरीक्षण के ताप में उन्होंने मोह-माया के बंधनों को तोड़ डाला और तत्क्षण वे क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ हो गए । धीरे-धीरे कर्मों के बन्धन शिथिल होने लगे और कुछ ही क्षणों में वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी-वीतराग बन गए ।

उनका अभिमान भी प्रतिबोध के लिए हुआ ।
उनका राग भी गुरु भक्ति के लिए हुआ ।
उनका शोक की केवलज्ञान के लिए हुआ ।

भगवान महावीर प्रभु के प्रति उनका विनय अपूर्व कोटि का था । नम्रता की वे साक्षात् मूर्ति थे । प्रभु के प्रति रहे अद्भुत समर्पण के फलस्वरुप ही उन्हें ऐसी लब्धि प्राप्त हुई थी कि वे जिसे दीक्षा प्रदान करते, उन्हें केवलज्ञान हो जाता ।

जो केवलज्ञान स्वयं के पास नहीं था, ऐसे केवलज्ञान का दान करने वाले वे विलक्षण व्यक्ति ही थे ।

गौतम स्वामी का सब कुछ अद्भुत

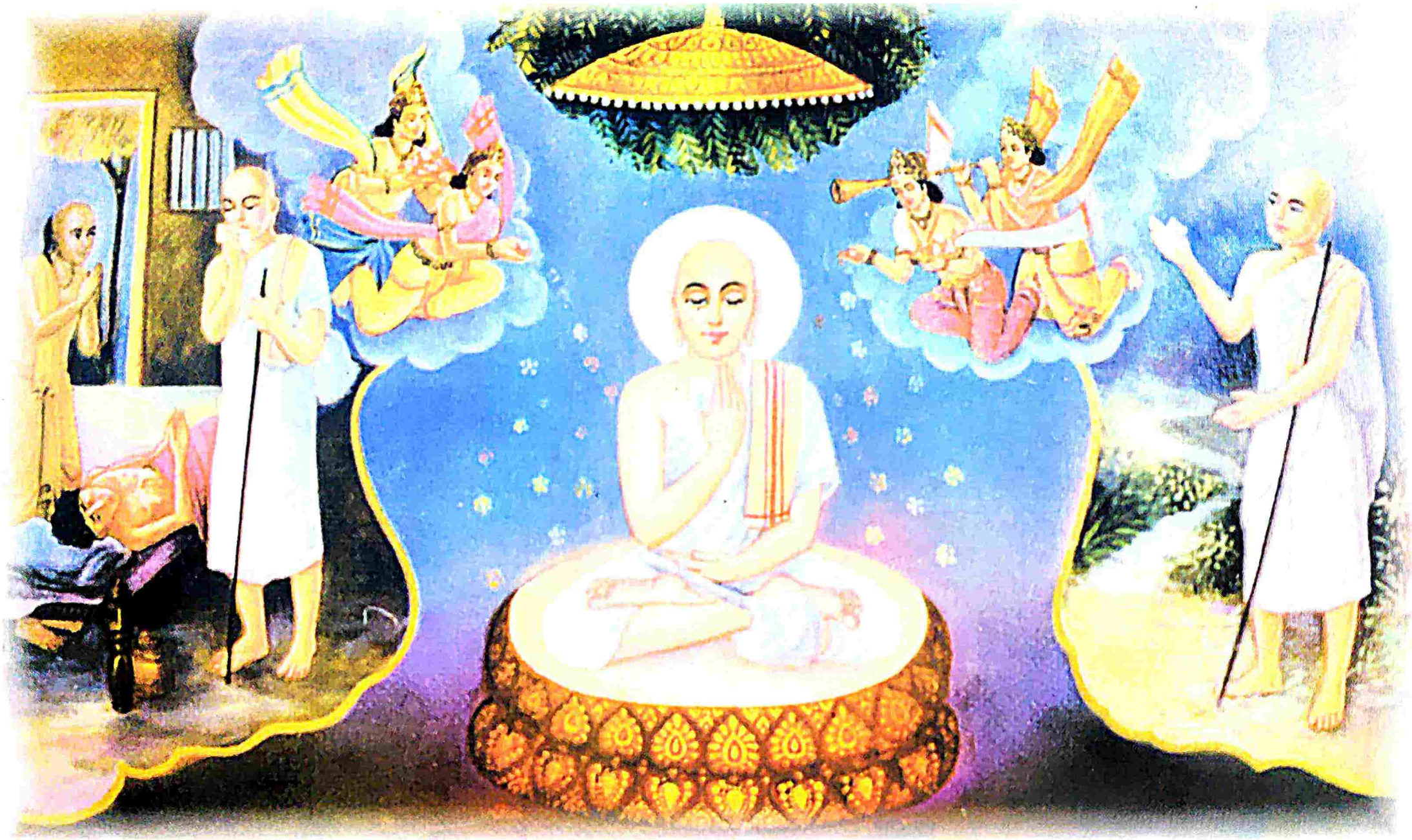

गौतम स्वामी केवलज्ञान

महावीर वाणी

- अहिंसा, संयम और तप रुप धर्म, उत्कृष्ट मंगल है । जिसका मन धर्म में सदा लगा हो, उसे देवता भी नमस्कार करते है ।

- जब तक बुढापा नहीं सताता, जब तक रोग नहीं बढता, जब तक इन्द्रियाँ क्षीण नहीं होती, तब तक धर्म का अच्छी तरह से पालन कर लेना चाहिये ।

- यतनापूर्वक चलनेवाला, यतनापूर्वक खडा होने वाला, यतनापूर्वक बैठनेवाला, यतनापूर्वक सोने वाला, यतनापूर्वक भोजन करने वाला और यतनापूर्वक बोलनेवाला पाप कर्म का बंध नहीं करता है ।

- आत्मा के साथ ही युद्ध करो, बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने से क्या फायदा ?

- जो जो रात्रि प्रसार हो जाती हैं, वे वापस नहीं लौटती हैं । धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल हो जाती है ।

- आत्मा ही अपनें सुख-दु:ख का कर्ता है । कर्म का बंध भी वो ही करता है और कर्म का क्षय भी वो ही है ।

- जैसे जैसे लाभ होता हैं, वैसे वैसे लोभ होता हैं, लाभ से लोभ बढ़ता है ।

- इच्छाएँ आकाश के समान अनंत है ।

- जो जिनवचन में अनुरक्त है और जो भावपूर्वक जिनवचन का पालन करते हैं, वे मिथ्यात्वमल और संक्लेश से रहित होकर अल्पसंसारी हो जाते है ।

- जिस प्रकार किंपाक फल खाने का परिणाम सुंदर नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुंदर नहीं होता ।

- कषाय को अग्नि कहा गया है और श्रुत, शील और तप जल है ।

- कुश के अग्र भाग पर रही जल बुंद अल्प समय के लिए ठहरती है, वैसा
मनुष्य का जीवन हैं, अतः हे गौतम ! तूं समय मात्र का भी प्रमाद मत कर

- इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर जीव है, उनका जाने-अनजाने
साधक हनन न करे और न कराए ।

- जिसने केवल ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना कर ली है तो समझना चाहिये
उसने समस्त उत्तम व्रतों की आराधना कर ली । इसलिए निपुण साधक
ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये ।

- जो धैर्यवान है, जो धर्मरथ का चालक सारथि है, जो धर्म के आर
(बगीचे) में रत है, जो दान्त है एवं जो ब्रह्मचर्य में सुसमाहित है, वह भि
धर्म के आराम (बाग) में विचरण करता है ।

- जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष
राक्षस एवं किन्नर सभी नमस्कार करते हैं ।

- यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, और जिनोपदिष्ट है । इस ध
के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे ।

- जो सजीव अथवा निर्जीव वस्तु का स्वयं संग्रह करके दूसरों से भी संग्र
कराता है तथा दूसरों को इस प्रकार के परिग्रह की सम्मति देता है वह दुः
से मुक्त नहीं होता ।

- जो मनुष्य अज्ञानता के कारण पापवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं
वासना के जाल में पड़े हुए वैरकर्म से बँध अन्त में मरने के उपरान्त नर
में जाते हैं ।

- कर्मों से दुःख पाते हुए प्राणी को, स्थावर, जंगम अर्थात् चल-अचल सम्प
धन धान्य और उपस्कर गृहोपकरण भी दुःख से मुक्त करने में समर्थ न
होते ।